ओ३म्

योगदर्शन एवं गायत्री - मौलिक व्याख्या

आनंद का मार्ग
उपासना

लेखक

डॉ. हरिश्चंद्र

प्रकाशकः

वैदिक प्रकाशन

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा (पं.)

15, हनुमान रोड, नई दिल्ली–110001

लेखक ● डॉ. हरिश्चंद्र

संपादकः ● आचार्य अनिल शास्त्री

ISBN ● 978-81-936395-3-5

प्रकाशक **वैदिक प्रकाशन**
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा (पं.)
15, हनुमान रोड, नई दिल्ली–110001
दूरभाष : 011–23360150

संपर्क
Website www.thearyasamaj.org
E-mail aryasabha@yahoo.com
Mobile 9540040339, **Whatsapp No.** 9540045898
Online book reading www.elibrary.thearyasmaj.org
Online shopping eshop.thearyasamaj.org

प्रथम संस्करण विश्व पुस्तक मेला–2020

मुद्रक क्रियेटिव प्लेनेट्स

मूल्य 40/–

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
1. संध्योपासना : एक भूमिका	**07–14**
ज्ञान–कर्म–उपासना की प्रस्थानत्रयी	
मन से वियुक्त होकर ही उपासना संभव	
ध्यान	
संध्या	
संध्योपासना	
योग	
चित्त/बुद्धि, अहंकार और मनस्	
उपासना और योग	
ब्रह्मयज्ञ	
वेद के चार विषय	
आर्य समाज का दूसरा नियम	
मानव जीवन का परम उद्देश्य	
देव–वेद, भर्गः–गर्भः, यज्ञ–जय	
2. उपासना – क्यों?	**15–19**
कर्म ईश्वर को समर्पित	
प्राणिमात्र के प्रति मातृत्व	
पर्यावरण की सुरक्षा	
3. उपासना – कैसे?	**20–23**
भजन–कीर्त्तन उपासना नहीं	
शुद्ध पवित्र जीवन उपासना नहीं	
उपासना विधि पतंजलिकृत योग दर्शन में	

4. पतंजलि के तीन योग 23–28

आत्मा मन के खोल में जैसे मुट्ठी में अंगूठा

जीवन सिनेमा की भांति

आत्मा के भीतर परमात्मा

क्लेश = अविद्या

क्लेश का अशुद्धि को जन्म देना

योग, क्रियायोग और अष्टांग योग

5. पतंजलि का अष्टांग योग और वैदिक संध्या 29–34

6. पतंजलि का क्रियायोग और गायत्री संध्या 35–44

7. उपासना-मार्ग के सोपान 45–66

प्राक्कथन

मुझे प्रस्तुत पुस्तक "आनंद का मार्ग उपासना, योगदर्शन एवं गायत्री : मौलिक व्याख्या" पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए अत्यधिक प्रसन्नता है। महर्षि दयानंद ने पतंजलि कृत योग के माध्यम से ईश्वर-उपासना पर अत्यधिक बल दिया था किंतु आधुनिक काल में इसका सर्वथा लोप ही हो गया है :- योग के स्थान पर सर्वत्र हठयोग प्रचलित है और संध्योपासना के स्थान पर मात्र मंत्र-पाठ। आर्यसमाज की अग्नि भी धूमिल होती दिख रही है, जिसे उपासना मार्ग ही बचा सकता है। अपनी विशेषताओं के कारण यह पुस्तक विद्वानों और जन सामान्य के लिए उपयोगी सिद्ध होगी :-

1. पतंजलि ने योग-दर्शन में योग, क्रिया योग और अष्टांग योग का उपदेश दिया है। इन तीन प्रणालियों का उपदेश क्यों दिया गया-इस प्रश्न को किसी लेखक ने उठाने का लगता है यत्न नहीं किया। इसकी संगति चित्त की तीन कोटियों से क्रमशः लगाई गई है-
   क. क्लेश- रहित चित्त,
   ख. क्लेश-सहित चित्त किंतु अशुद्धि-रहित, एवं
   ग. क्लेश-सहित और अशुद्धि-सहित चित्त।

   संध्या की संगति अष्टांग योग से बताते हुए, गायत्री मंत्र के जप से क्रिया योग की संगति लगाई गई है।
2. अतःकरण चतुष्टय के रूप में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को गिनाने की परिपाटी चल पड़ी है जो महर्षि कपिल के स्पष्ट मत से मेल नहीं खाती है, 5 ज्ञानेंद्रियां, 5 कर्मेंद्रियां, मनस्, अहंकार और बुद्धि, कुल 13 कारण बताए गए हैं-करणत्रयोदश विधमवान्तरभेदात् (सांख्य 3.38)। तदनुसार यह बताया गया है कि बुद्धि को ही चित्त भी कहते हैं, महत्तत्व भी इसका एक अन्य नाम है। चित्त और बुद्धि-इन दो नामों का भेद भी संक्षेप में बताया गया है। अहंकार को अनेक 'ईगो' के रूप में गलत प्रस्तुत करते हैं-यह वस्तुतः संस्कारों को संजोकर रखता है (स्मृति को भी)। इसके ही माध्यम से हम कर्मों को संपादित करते हैं-अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः (सांख्य 6.54)।

संदर्भ प्रस्तुत होने पर कुछ और बिंदुओं पर नए ढंग से प्रकाश डाला गया है:-

3. महर्षि दयानंद ने चार वेदों के विषय पर स्पष्टमत व्यक्त किया है कि ये क्रमशः विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान है। किंतु, फिर भी कुछ लोग इसे बदल कर ऐसे प्रस्तुत करते हैं-ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान। उनकी भूल का कारण विज्ञान को सायंस समझना है, जबकि महर्षि का विज्ञान से आशय समाधि लाभ में ईश्वरीय स्रोत से प्राप्त ज्ञान से है जिसे पतंजलि ने सम्प्रज्ञात योग कहा है। संक्षेप में ऐसा समझाने का यत्न किया गया है।
4. यज् धातु-देवपूजासंगतिकरणदानेषु-से निष्पन्न यज्ञ शब्द के संदर्भ में यह बताया गया है कि देव पद की अनुवृत्ति पूजा के बाद शेष दो पदों के साथ भी लगेगी-संगतिकरण और दान के साथ भी। इससे यज्ञ शब्द के व्यापक अर्थ को समझने में पाठकों को सहायता मिलेगी।
5. मनु के वचन 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' की अलग ढ़ंग से व्याख्या की गई है-देवत्व के मार्ग की कसौटी के रूप में।
6. वेद की विशेष युग्म शैली को प्रस्तुत किया गया है, जब शब्द को उलट कर देखने से एक अन्य किंतु संबंधित अर्थ प्रकाशित होता है, जैसे देव-वेद, भर्गः-गर्भः, जय-यज्ञ में। भविष्य में कभी इस प्रकार के अन्य शब्दों पर प्रकाश डालने का अवसर मिलेगा तो, जिससे वेद के रहस्य समझने में सहायता मिलेगी।

जन सामान्य के लिए भी पुस्तक लाभकारी हो, ऐसा ध्यान में रखते हुए अध्याय 6 और 7 में अधिक विस्तार दिया है।

आशा है कि यह प्रयास आर्य समाज में और उसकी परिधि के बाहर भी ध्यान की आर्ष शास्त्रीय पद्धति और उसके माध्यम से ईश्वर-उपासना को अधिक लोकप्रिय बनाने में सहायक होगा। इसी से मानवता का कल्याण संभव है। ❖

-हरिश्चंद्र

आर्य समाज ग्रेटर ह्यूस्टन (अमेरिका)

1

संध्योपासना– एक भूमिका

उपासना शब्द 'उप' (समीप) और आसन (बैठना) के संयोग से बनता है, अर्थात् समीप बैठना। प्रभु के समीप बैठना। सामान्यतः हमारा आत्मा अपने दो उपकरणों–तन और मन–से संयुक्त होकर चौबीस घंटे जीवन के क्रिया कलाप करता है। यहां तक कि जब हम नींद में होते हैं और इन दोनों उपकरणों को विश्राम मिलना चाहिए तब भी बहुधा मन की गति चलती रहती है और हम स्वप्न देखते रहते हैं। इस प्रकार हमारी आत्मा मन से संयुक्त होकर उसके माध्यम से संसार से जुड़ा रहता है। लेकिन इस संसार के निर्माता परमात्मा से जुड़ने के लिए आवश्यक है कि आत्मा अपने दोनों उपकरणों से कुछ क्षणों के लिए वियुक्त हो जाए तब उसके बाद ही वह परमात्मा से जुड़ सकेगी।

ज्ञान–कर्म–उपासना की प्रस्थानत्रयी :– मन और तन से जुड़कर हम मुख्यतः पांच ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करते हैं। फिर बुद्धिपूर्वक विचार करके हम किसी निर्णय पर पहुंचते हैं और उस निर्णय को पांच कर्मेंद्रियों के द्वारा संपादित करते हैं, जिसे कर्म कहते हैं। ज्ञान और कर्म का सिलसिला अनवरत चलता रहता है। ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त ज्ञान को मन आत्मा तक पहुंचाता है अर्थात् ज्ञान का प्रवाह भीतर की ओर है। आत्मा ने बुद्धिपूर्वक निर्णय लेने के बाद अपना आदेश कर्मेंद्रियों के द्वारा कर्म के रूप में संपादित किया। कर्म का प्रवाह भीतर से बाहर की ओर है।

ज्ञान और कर्म पशु–पक्षी के लिए भी इसी प्रकार आवश्यक हैं। लेकिन मनुष्य के जीवन में एक तीसरा विलक्षण आयाम संभव है, जिसे उपासना कहते हैं। जबकि निद्रा सबके लिए आवश्यक है–मनुष्य के लिए भी, पशु–पक्षी के लिए भी। उपासना कुछ विलक्षण ही गतिविधि है कि एक मनुष्य जाग्रत अवस्था में है; तन और मन के उपकरण सुचारु रूप से चल रहे हैं। वह स्वस्थ भी है और विशेष थकान भी नहीं है। किंतु, कुछ देर के लिए तन और मन की गतिविधियों को पूर्णतः रोककर आत्मा को परमात्मा से जोड़ लेना चाहता है। यहां प्रयुक्त ''स्वस्थ'' शब्द भी विचारणीय है। स्वस्थ वह है जो स्व (आत्मतत्त्व) में स्थित हो जाए स्वस्थ = स्व+स्थ। जिसका मन और तन स्वस्थ है, वही व्यक्ति उनसे अलग हो सकेगा और अपनी अंतर्गुहा में प्रियतम प्रभु से मिल सकेगा। यदि सिर में दर्द है या मन में चिंता–अवसाद की स्थिति है तो अंतर्गुहा में जाना संभव ही नहीं होगा क्योंकि तन और मन से उनके स्वामी आत्मा के पास अनवरत संवाद आएगा कि कुछ हमारी फिक्र करो और हमें अकेला छोड़कर अंतर्गुहा में न चले जाओ। ऐसी स्थिति में उपासना संभव नहीं है।

मन से वियुक्त होकर ही उपासना संभव :– उपासना के लिए तन और मन का स्वस्थ होना तो आवश्यक है बल्कि उनकी समस्त गतिविधियों को रोकना भी आवश्यक है। विशेष कर, मन की हलचल को रोकना एक बहुत बड़ी चुनौती है। जैसे, बस या कार से उतरने के पूर्व आवश्यक है कि बस या कार रुक जाए। तत्पश्चात् हम वाहन से उतर सकते हैं। फिर कुछ पग चल कर हम अपने प्रियतम से मिल सकते हैं। यदि हम वाहन में ही बैठे रहें और यात्रा के रमणीक दृश्यों को ही निहारते रहें तो प्रियतम के पास कभी नहीं पहुंच सकेंगे। हमें यह चुनाव करने के लिए बाध्य होना ही पड़ेगा या तो यात्रा का सुख लें या प्रियतम से मिलने का। ईश्वर–उपासना जिसका उद्देश्य बन गया है, उसे समझ में आ जाता है कि प्रियतम प्रभु से मिलने के लिए मन रूपी वाहन को रोक कर उससे उतर कर ही यह उद्देश्य प्राप्त हो सकेगा। उपासना–मार्ग के साधक को कई मिलते–जुलते शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है। यह शब्दावली काम आएगी। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो बोलचाल में भी प्रयुक्त होते हैं किंतु उपासना के प्रसंग में उनका अर्थ बहुत अलग हो जाता है। ''ध्यान'' ऐसा ही एक शब्द है।

ध्यान :– सामान्य बोलचाल में भी इस शब्द का प्रयोग होता है। यथा, कृपया ध्यान (अटेंशन) दीजिए। ध्यान (कंसंट्रेशन) से पढ़ना चाहिए, इत्यादि। लेकिन उपासना के प्रसंग में प्रयुक्त ध्यान (मैडिटेशन) शब्द का आशय अलग ही है। सामान्य बोलचाल के जो दो प्रयोग बताए गए हैं वहां मन की एकाग्रता किसी विषय विशेष पर केंद्रित करना आवश्यक है। किंतु उपासना मार्ग पर चलने के लिए जब

ध्यान में बैठते हैं तो उद्देश्य होता है कि मन में कोई हलचल न हो। महर्षि कपिल ने सांख्य (6.25) में लिखा है– *ध्यानं निर्विषयं मनः।* अर्थात् जब मन में कोई विषय न हो तब ध्यान की स्थिति बनती है। प्रस्तुत पुस्तक में प्रयुक्त ध्यान शब्द का सर्वत्र यही आशय होगा, मन में कोई विषय नहीं हो। विचारशून्यता की स्थिति, बिल्कुल कोई भी हलचल न हो। बल्कि परमात्मा के बारे में भी कोई विचार न चल रहा हो और न ही किसी वेदमंत्र या उसके अर्थ का कोई विचार।

संध्या :– यह शब्द ध्यान से ही बनता है, ''सम्'' उपसर्ग पूर्वक – सम्यकार्थे। सम्यक् (अच्छी) प्रकार से किए गए ''ध्यान'' को ''संध्या'' कहते हैं। इस शब्द में एक और भी अर्थ निहित है कि संध्या प्रतिदिन दो बार की जानी चाहिए–संधिवेला में, जब दिन और रात की संधि होती है–प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व और सायंकाल सूर्यास्त के तुरंत बाद। जो देश उष्णकटिबंध से दूर हैं अर्थात् कर्क रेखा से उत्तर में हैं या मकर रेखा से दक्षिण में हैं, जहां दिन या रात की अवधि कभी–कभी बहुत दीर्घ हो जाती है वहां के लिए प्रातः 5–6 बजे या सायं 5–6 बजे की अवधि उचित है। अस्तु, यह कालनिर्देश है लेकिन व्यक्तिगत परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए संध्या के लिए अनुकूल समय नियत कर लेना चाहिए।

संध्योपासना :– उपासना के प्रसंग में हमने देखा कि ईश्वर उपासना के लिए मन की हलचल पूरी रुक जानी चाहिए। जिसे ध्यान की अवस्था कहते हैं। वही ध्यान भली प्रकार से किया जाए तो संध्या के रूप में जाना जाता है। संध्या में आसन, आचमन, प्राणायाम, मंत्र पाठ आदि गौण हैं एवं मुख्य उद्देश्य उपासना का है। प्रभु की गोद में बैठ कर उसके सान्निध्य में ही लुप्त हो जाना कि किसी भी पदार्थ का भान न रहे। इस आशय को रेखांकित करने के लिए संध्या को संध्योपासना भी कहते हैं। संध्या और उपासना की संधि से यह शब्द बनता है।

योग :– यह शब्द आजकल जनसामान्य में बहुत प्रचलित हो गया है। सामान्यतः विभिन्न शारीरिक मुद्राओं को आसन का रूप देने की क्रियाओं को योग कहा जाने लगा है और कई बार इसका अशुद्ध उच्चारण ''योगा'' भी किया जाता है। कई बार इसमें श्वास संबंधी क्रियाएं भी सम्मिलित कर ली जाती हैं। इस प्रकार के शरीर और श्वास संबंधी व्यायाम को वस्तुतः हठयोग कहना चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक में हम ''योग'' शब्द का वास्तविक अर्थ ही लेंगे जिसके प्रणेता महर्षि पतंजलि हैं, जिन्होंने ''योगदर्शनम्'' नामक ग्रंथ की रचना कई सहस्र वर्ष पूर्व की थी। यह संस्कृत में सूत्रबद्ध है अतः योगसूत्र भी कहलाते हैं। उनका ग्रंथ चार अध्यायों में है, कुल 195 सूत्र हैं। आरंभ के दूसरे सूत्र में ही वे इस पद को परिभाषित करते हैं –

योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः (योग 1.2)। अर्थात् चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध करना, उनको रोक देना, योग कहलाता है। मन (माइंड) मस्तिष्क (ब्रेन) से भिन्न हमारा उपकरण है। तन को स्थूल शरीर कहें तो मन सूक्ष्म शरीर कहलाता है। यह भी प्रकृति के सूक्ष्मतम कणों से बना है, जिनसे हमारा स्थूल शरीर बना है। वैदिक चिंतन में मस्तिष्क (ब्रेन) को तन (स्थूल शरीर) का अंग मानते हैं और वहां हो रही गतिविधियों को प्राण-परिवार के अंतर्गत मानते हैं जैसे हृदयगति, श्वासक्रिया आदि।

चित्त/बुद्धि, अहंकार और मनस्-मन में तीन परतें हैं -चित्त/बुद्धि, अहंकार और मनस्। आत्मा के निकटतम् बुद्धि/चित्त की परत है जो कि महत् ही है। सांख्य में प्रकृति से बनने वाला सर्वप्रथम तत्त्व महत् कहलाता है। वही महत् हमारे सूक्ष्म शरीर के अंतर्गत चित्त (और बुद्धि भी) कहलाता है। आत्मा इसीको सदा निहारता है जिस पर ज्ञानेंद्रियों द्वारा लाया गया ज्ञान परिलक्षित होता है। तब आत्मा को वह ज्ञान भासता है। ऐसी प्रक्रिया करते हुए इसे चित्त कहते हैं जिसका महर्षि पतंजलि ने प्रयोग किया है। तब आत्मा इसी उपकरण द्वारा सोच-विचार करके निर्णय लेती है तब इसे बुद्धि कहा जाता है। अहंकार में ज्ञान, निर्णय व किए जाने वाले कर्मो को संजोकर रखा जाता है, अतः वह हमारी स्मृति है-स्टोरेज डिवाइस। मनस् का काम तन से जुड़ना है-दो तरफा। ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को वह अहंकार के सुपुर्द करता है जो चित्त पर उसे अंकित करता है व भविष्य के लिए संजोकर भी रखता है। फिर बुद्धिपूर्वक निर्णय लिए जाने के बाद उस निर्णय को भी अहंकार संजोकर रखता है और मनस् तक पहुंचाता है जो फिर कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्म का संपादन करता है।
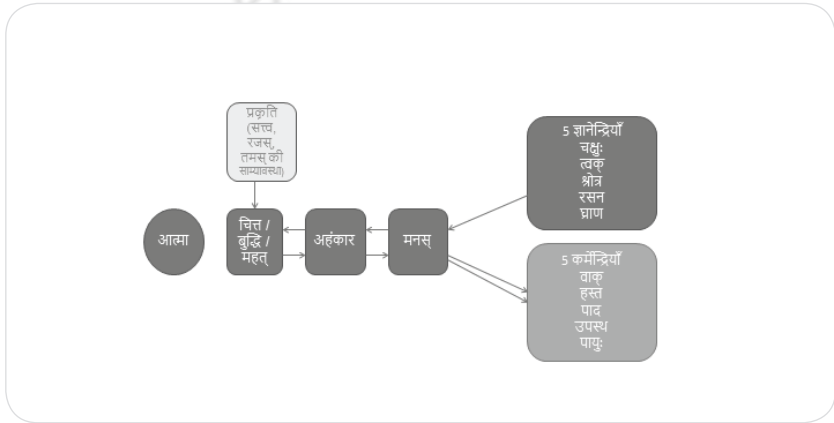
उपासना और योग :- उपासना का प्रसंग आत्मा से है जो चित्त के माध्यम संसार से जुड़ता है। अतः महर्षि पतंजलि ने योग का उद्देश्य यह बताया कि चित्त पर कोई भी वृत्ति न हो। अर्थात् चित्त रूपी पर्दे की स्थिति वैसी हो जाए जैसे सिनेमा आरंभ होने से पूर्व सिनेमा के श्वेत पर्दे की स्थिति होती है। तदर्थ आवश्यक है कि ज्ञानेंद्रियों से कोई भी विषय का ज्ञान चित्त तक न पहुंचे और न ही अहंकार (=स्मृति) से कोई पुराना ज्ञान। चित्त पर जब कोई भी वृत्ति नहीं होगी तब आत्मा चित्त से अलग हो सकेगा और तब ही वह परमात्मा की उपासना को प्राप्त कर सकेगा। इस प्रकार हमने देखा कि महर्षि पतंजलि के योग का उद्देश्य उपासना ही है। महर्षि दयानंद भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रतिज्ञाविषय पर लिखते हैं कि "....पतंजल, सांख्य, वेदांतशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना।" महर्षि दयानंद ने यत्र-तत्र उपासना पर बल दिया है, जिसकी विधि योगाभ्यास ही बताई है।

योग शब्द का जनसामान्य में एक अर्थ प्रचलित है। यथा, योगफल। दो संख्याओं को जोड़ने से जो संख्या प्राप्त होती है, उसे उन संख्याओं का योगफल कहते हैं। जैसे, 3 और 5 का योगफल 8 होता है। यह आशय महर्षि पतंजलि के आशय से बहुत दूर नहीं है। चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने पर आत्मा चित्त से वियुक्त हो जाती है और तब उसका परमात्मा से योग हो सकता है। आत्मा और परमात्मा का जुड़ना।

ब्रह्मयज्ञ :- ब्रह्म परमात्मा का ही एक नाम है। अर्थात् महान्। यज्ञ शब्द यज् धातु से बना है - *देवपूजासंगतिकरणदानेषु।* यहां "देव" की अनुवृत्ति "पूजा" के बाद "संगतिकरण" व "दान" के साथ भी है। अर्थात् देव की पूजा, देव की संगति और देव को दान। उपासना के कर्म को ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं क्योंकि ब्रह्मयज्ञ का अर्थ हुआ ब्रह्म की संगति-ब्रह्म ज्येष्ठतम देव है।

इस प्रकार हमने देखा कि उपासना, ध्यान, संध्या, संध्योपासना, योग, ब्रह्मयज्ञ इत्यादि पदों का आशय एक समान है-प्रभु की गोद में कुछ क्षणों के लिए बैठना। जिसके लिए मुख्य अनिवार्यता है कि आत्मा तन और मन से वियुक्त हो जाए और उसके लिए आवश्यक है कि मन की (विशेषतः चित्त की) सारी हलचलें रुक जाएं। तन और मन के द्वारा हम संसार से जुड़ते हैं और इनसे वियुक्त होकर संसार को बनाने वाले से जुड़ सकते हैं।

वेद के चार विषय :- महर्षि दयानंद ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का प्रमुख विषय क्रमशः विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान बताते हैं। यहां विज्ञान का अर्थ "विशेष ज्ञान" है। मोटे तौर पर,

हमें ज्ञानेंद्रियों से जो प्राप्त होता है उसे ज्ञान कहते हैं। जैसे-जैसे हमें उपासना में प्रवीणता मिलती जाती है वैसे-वैसे प्रभु की कृपा से उपासना-काल में जो ज्ञान मिलता है, वह विज्ञान कहलाता है। यह ''विज्ञान'' पदार्थ-विद्या से संबंध रख सकता है या अध्यात्म विद्या से भी-किंतु यह ईश्वर प्रदत्त है। अतः पाठक ध्यान रखेंगे कि महर्षि दयानंद द्वारा प्रयुक्त शब्द ''विज्ञान'' का वह आशय नहीं है जो आजकल जनसामान्य विज्ञान से सायंस (पदार्थ विद्या) का अर्थ लगाता है। इस प्रकार हमने देखा कि वेदों का प्रमुख विषय उपासना ही है और उपासना द्वारा ही उपासक को गूढ रहस्यों का विज्ञान (=विशेष ज्ञान) प्राप्त होता है, जिसका महर्षि पतंजलि ने संप्रज्ञात समाधि के रूप में उल्लेख किया है।

आर्य समाज का दूसरा नियम :- महर्षि दयानंद ने आर्य समाज के दूसरे नियम में ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन किया है। उसके अंत में वे लिखते हैं- उसी की उपासना करनी योग्य है। महर्षि दयानंद सत्यार्थ प्रकाश में उपासना से होने वाले लाभ के बारे में लिखते हैं कि पर्वत के समान दु:ख भी सच्चे उपासक को विचलित नहीं कर सकता। हम जानते हैं कि कितनी ही सावधानी बरती जाए, हर मनुष्य के जीवन में दु:ख आ ही पड़ते हैं। एक सामान्य व्यक्ति छोटे-मोटे दु:खों से ही दु:खी हो जाता है और उदास होकर बैठ जाता है। किंतु एक उपासक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है कि दु:खों से घिर जाने पर भी वह दु:खी नहीं होता। यह सत्य है कि हम संसार के दु:खों को ओझल नहीं कर सकते हैं किंतु यह भी बहुत बड़ी बात है कि यदि हम दु:खी न हों। यही उपासना की शक्ति है।

मानव जीवन का परम उद्देश्य :- वेदों के अनुसार मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य ईश्वर को जानना और प्राप्त करना है। पुस्तकों के स्वाध्याय से और विद्वानों के व्याख्यानों से ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का आंशिक ज्ञान तो अवश्य हो सकता है, किंतु ईश्वर-साक्षात्कार नहीं हो सकता, इसका एकमात्र उपाय ईश्वर-उपासना है। यजुर्वेद 31.18 में आता है कि *''वेदाहमेतं पुरुषं ..... तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते''* अर्थात् उस दिव्य पुरुष को जाने बिना जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता है एवं इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। इस प्रकार उपासना करने से आपके ज्ञान और कर्म में निरंतर परिष्कार आएगा। ज्ञान की प्रगति विज्ञान के रूप में होगी और कर्म निष्काम भावना से किए जाएंगे। निष्काम कर्म ही यज्ञकर्म कहलाते हैं जिनके लिए 'योग'' शब्द भी प्रयुक्त होता है। उपासना को यदि योग कहें तो ऐसे व्यक्ति के कर्म योग कोटि के होते जाएंगे। योग द्वारा उपासक को परमात्मा से आंतरिक ऊर्जा प्राप्त होती है जिससे ऊर्जावान् होकर वह योग की ओर अग्रसर होता है।

देव-वेद, भर्गः-गर्भ, यज्ञ-जय :-योग-याग के युग्म को देखते हुए हम तीन और युग्म की ओर ध्यान देते हैं जिनका उपासना से संबंध है और जिनमें एक विशेष ढंग का अलंकार भी है कि वे शब्दों को उलट कर बनते हैं। सबसे पहले हम वेद को ही लेते हैं, जिसे उलट कर कहें तो देव बनता है। जैसे कि, वेद के उपदेश का सार इसी में है कि हम देव बन जाएं-मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। जैसे-जैसे मनुष्य देवत्व की ओर बढ़ता जाता है उसे उपासना में रुचि होने लगती है और उपासना सहजतर हो जाती है। जैसे कि उसे अपने गर्भ में भर्गः (अनंत प्रकाश स्वरूप परमात्मा) साक्षात् दीखने लगता है। इस प्रकार, उपासक के कर्म उत्कृष्ट कोटि के होने लगते हैं। जैसे कि यज्ञ से उसकी जय होती जाती है।

ऊपर की पंक्तियों में हमने उपासना क्या है, पर विचार किया। संध्या मुख्यतः उपासना के उद्देश्य से की जाती है जिसमें मंत्रपाठ गौण है। प्रभु का सामीप्य मुख्य है। क्योंकि जब हम मंत्र बोल रहे होते हैं या मंत्र के अर्थ पर विचार कर रहे होते हैं तो हमारे मन में कुछ न कुछ हलचल विद्यमान रहती है। जब मन में ''कुछ भी न हो'' तब हम उपासना में होते हैं। इसकी संगति महर्षि पतंजलि के योगदर्शन से दिखाई जाएगी।

अगले पृष्ठों में :-

- उपासना क्यों करनी चाहिए
- उपासना से क्या लाभ होते हैं
- योगदर्शन में योग, क्रियायोग और अष्टांग योग और इनकी संगति क्रमशः वैदिक संध्या, गायत्री संध्या और प्रणव जप से
- वैदिक संध्या की विधि
- गायत्री संध्या की विधि

इन सब विषयों पर विचार किया जाएगा। उद्देश्य है कि प्रत्येक पाठक दैनिक जीवन के कुछ क्षण प्रभु के सामीप्य में बिता सके। इससे उसके ज्ञान व कर्म में विस्तार होगा और निखार भी आएगा। जैसे एक बालक मातृ स्नेह से अभिभूत होकर मां की गोद में जाता है और मां के प्रति स्नेह-प्रेम उसमें उदित होता है, उसी प्रकार ईश्वर-उपासना के क्षणों में उपासक के अंदर एक नए प्रकार का प्रेम रस उत्पन्न होता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसके लिए ''सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए'' आसान और स्वाभाविक हो जाता है।

उपासना – क्यों ?

जैसा कि हम देख चुके हैं, ज्ञान और कर्म में पशु–पक्षी भी संलग्न रहते हैं किंतु उपासना से केवल मनुष्य का ही संबंध है। दूसरे शब्दों में कहें तो उपासना के बिना जैसे कि एक मनुष्य ने अपने मानव–जीवन का लाभ ही नहीं उठाया वरन् पशु–पक्षी की तरह जीवन यापन करके संसार से विदा हो गया। उपासना को इस स्तर तक आवश्यक समझना चाहिए कि जैसे इसके बिना हम पशुवत् जी रहे हैं। यदि उपासना इतनी आवश्यक है तो इसके लाभ भी अत्यंत होंगे।

ईश्वर की उपासना में आनंद की प्राप्ति इतनी स्वाभाविक है, जैसे कि एक बालक के लिए मां की गोद में जाना। हर बच्चा कुछ क्षण मां की गोद में बिता कर आंतरिक ऊर्जा से युक्त होकर अपनी चहल–पहल में उद्यत हो जाता है। उपासना के कुछ क्षणों में हम संसार से वियुक्त होकर परमात्मा की गोद में एक अद्‌भुत आनंद रस का पान करते हैं। यह कुछ ऐसा अनुभव है जिसका प्रभाव हमारे जीवन की प्रत्येक गतिविधि पर पड़ता है। मोटे तौर पर कहें तो हमारे ज्ञान व कर्म में शनैः–शनैः निखार आता है। हमने पुस्तकों से व अध्यापकों से जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसमें गहराई आती जाती है। गूढ रहस्यों की परतें एक–एक करके हटती जाती हैं। इसका अपना विलक्षण सुख है। महर्षि दयानंद ने विद्या प्राप्ति को उच्चतम स्तर का सुख कहा है जिसकी अनुभूति उपासना के परिणाम से होने लगती है। अब मनुष्य को सामान्य

सांसारिक ज्ञान में कम रुचि लगती है, जैसे समाचार पत्र, टी.वी., इंटरनेट आदि। उसे गहराई में जाकर मोती चुनने का अभ्यास हो गया है। वह क्षणभर में ही मुख्य बिंदुओं को जान लेता है और सामान्य बातों में अपना समय व्यर्थ नहीं गंवाता है। धीरे-धीरे उपासक की ऐसी स्थिति हो जाती है कि उसे चित्त पर विशेष ज्ञान की प्राप्ति होने लगती है जो सामान्य मनुष्यों के लिए तो बहुत दूर की चीज है, अपितु विद्वानों को भी अप्राप्य है। ऐसे आध्यात्मिक बिंदुओं को ही विज्ञान कहते हैं जो परमात्मा अपनी कृपा से उपासक के चित्त पर अंकित कर देता है, जिसे पतंजलि ने संप्रज्ञात समाधि कहा है।

कर्म ईश्वर को समर्पित :- हर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत (नहाना-धोना, खाना-पीना आदि), पारिवारिक (गृहकृत्य, परिवार के लिए बाजार से सामग्री लाना आदि) और व्यावसायिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि के सामाजिक कृत्य -जो पेशा उसने चुना हुआ है। कृत्यों में संलग्न रहता है। एक उपासक भी इन कर्मो में ही संलग्न रहता है। हर मनुष्य के हर कर्म किसी-न-किसी को समर्पित होते हैं। जैसे उसके द्वारा किए गए कार्यालय के काम उसके प्रबंधक (मैनेजर) को समर्पित होते हैं, जिनमें प्रबंधक की संतुष्टि आवश्यक है। एक दुकानदार के कर्म उसके ग्राहकों को समर्पित होते हैं। एक पुरुष अपने घर के काम से अपनी पत्नी-बच्चों को सन्तुष्ट करना चाहता है तो एक स्त्री अपने पति और बच्चों को संतुष्ट करना चाहती है। एक उपासक जैसे-जैसे उपासना में आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे वह अपने कर्मो को परमात्मा को समर्पित करना सीख लेता है और उसे वैसी आंतरिक अनुभूति होने लगती है। वह हर कर्म पवित्र भावना से करता है जिसमें राग-द्वेष आदि लेशमात्र भी न हो। उसे कर्मफल के प्रति आसक्ति नहीं है उसके कर्म निष्काम कर्म की कोटि में आने लगते हैं। छल-कपट, बेईमानी आदि का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वह अपने प्रबंधक या ग्राहकों को खुश करने के लिए कर्म नहीं कर रहा है वह तो अपने कर्मो को परमात्मा को समर्पित भाव से भेंट देने वाला है। जब इतनी उच्च भावना से कर्म करेगा तब अन्य सब सांसारिक लोग तो खुश हो ही जाएंगे। जब एक गायक ईश्वर को सुनाने के लिए गाता है तो उसका गीत सांसारिक लोगों को भी विशेष रुचिकर लगेगा ही। ऐसी भावना-कर्मो को परमात्मा के प्रति समर्पित करना -ईश्वरप्रणिधान कहलाता है जिस पर पतंजलि ने बहुत बल दिया है।

ईश्वरप्रणिधान की ऐसी भावना जब एक उपासक के मन में आ जाती है, तब वह अपने जीवन के एक-एक क्षण के प्रति बहुत सजग हो जाता है। वह एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गंवाता है क्योंकि उसका तन-मन और जीवन का प्रत्येक क्षण ईश्वर

को समर्पित है। इसका प्रभाव उसकी जीवन शैली पर पड़ता है। जैसे वह कार्यालय में सजग रहता है कि उसका प्रबंधक उसे निष्क्रिय न देख ले, एक उपासक भली प्रकार जानता है कि उसे ईश्वर हर क्षण देख रहा है। वह अपने तन-मन का पूरा सदुपयोग करता है।

इतना ही नहीं कि वह तन-मन द्वारा ज्ञान-कर्म की ऊंचाईयों को छूता जाता है, वह अपने तन-मन के स्वास्थ्य व स्वच्छता के बारे में भी अधिक सजग हो जाता है। उसके लिए तन-मन अब परमात्मा की दी हुई अत्युत्तम भेंट है। वह किसी ऐसे पदार्थ का सेवन नहीं करता है जो इनकी सामान्य कार्य-प्रणाली में बाधक हो-जैसे मद्य या कोई अन्य नशीला पदार्थ। मांस, अंडा, तामसिक मसालेदार भोजन से भी वह दूर रहता है। अच्छा सात्विक आहार स्वल्प मात्रा में लेता है जो तन-मन को अच्छी तरह से चलायमान रखते हैं और दीर्घायु भी प्रदान करते हैं।

प्राणिमात्र के प्रति भ्रातृत्व :- उपासना में जैसे-जैसे प्रगति होती जाती है, उपासक परमात्मा के सान्निध्य को प्राप्त करता जाता है। वह सच्चे अर्थों में जैसे अपनी मां की गोद में जा रहा हो। यह भावना उसे सच्चे अर्थों में आर्य बनाने लगती है - निरुक्त (6.26) में "आर्यः ईश्वरपुत्रः" आया है, जिसका आशय है कि एक आर्य वही है जो ईश्वर की संतान है। इस भावना का प्रबल प्रभाव उपासक के जीवन पर दिखाई देने लगता है। वह ऐसी कुछ हरकत नहीं करना चाहता है जिससे ईश्वर का नाम बिगड़े, आखिर वह ईश्वर की संतान है। अब वह अन्य मनुष्यों, पशु-पक्षी को भी ईश्वर की संतान समझकर उनके साथ कोई गलत कर्म या व्यवहार नहीं कर सकता है। इस प्रकार की भावना से उसके अन्दर पतंजलि के अष्टांग योग के यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) एवं नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान) सहज ही प्रवेश कर जाते हैं।

पर्यावरण की सुरक्षा - जैसे एक बालक अपनी मां के घर की किसी वस्तु को नष्ट नहीं करता और उसे यथास्थान रखता है, उसी प्रकार एक उपासक समस्त जगत् को ईश्वर का घर समझ कर किसी भी पदार्थ का दुरुपयोग नहीं करता है। भूमि, जल, वायु आदि पर्यावरण के विभिन्न अंगों को वह हानि नहीं पहुंचने देता है और न ही उन्हें बर्बाद करने देता है।

उपासना क्यों करनी चाहिए - के उत्तर में यह कहना ही पर्याप्त है कि उपासना द्वारा मानव जीवन निश्चित ही सार्थक हो सकता है। उपासना का और कोई विकल्प नहीं है। उपासना का एक और लाभ यह है कि उपासना की दिशा में प्रथम पग बढ़ाने पर दूसरा पग बढ़ाने की योग्यता अर्जित हो जाती है। अर्थात्, आप दूसरा पग भी बढ़ा सकते हैं। अन्यथा, उपासना सबसे कठिन मार्ग है। एक सामान्य व्यक्ति को

इसमें रुचि नहीं होती है। अच्छे-अच्छे लोग उपासना के मार्ग पर हार मान लेते हैं। कोई विरले ही इसमें आगे बढ़ पाते हैं। जितनी सामर्थ्य है उसके बल पर उपासना के मार्ग पर चल पड़ना चाहिए। इस मार्ग पर चलने से ही और अधिक सामर्थ्य उत्पन्न हो सकेगी कि आप और आगे चल सकेंगे। केवल पुस्तकें पढ़ने से और बातें बनाने - करने वाले को उपासना में सफलता नहीं मिलती है। तो, उपासना मार्ग पर चल कर हम एक सरल, निर्मल, सहज, मनुष्य कैसे बन सकते हैं, इसका उल्लेख आगे करेंगे कि उपासना कैसे की जाए?

3

उपासना – कैसे ?

ज्ञान और कर्म के संपादन में हम तन-मन का उपयोग करते हैं, किंतु उपासना के समय इनकी सारी हलचल रुक जानी चाहिए। तब इन क्षणों में तन-मन का स्वामी जो आत्मतत्त्व है वह संसार से वियुक्त होकर परमात्मा से युक्त हो जाता है। यह कहना आसान है, किंतु है बहुत कठिन। अच्छे-अच्छे लोगों के छक्के छूट जाते हैं। बस, पालथी मारकर आंखें मूंद लेने का नाम उपासना नहीं है। यदि आपका मन आपको संसार की वस्तुओं, बातों, घटनाओं का दिग्दर्शन करा रहा है तो आप संसार से जुड़े हुए हैं-ईश्वर से नहीं। फिर, बहुत से लोग सोचते हैं कि हम आंख मूंदकर परिवार या वस्तुओं के बारे में न सोच कर ईश्वर के बारे में सोचेंगे। यह भी उपासना नहीं है क्योंकि मन में विचारों की हलचल हो रही है और आप मन से जुड़े हुए हैं। यदि मन से जुड़े हैं तो ईश्वर से कैसे जुड़ेंगे? अधिकांश लोग आंख बंद करके पूरा समय वेदमंत्रों का पाठ करने में बिता देते हैं और समझते हैं कि उपासना हो गई। यदि आपकी वाणी से कोई ध्वनि निकल रही है, चाहे वे वेद मंत्र ही क्यों न हों तो भी वह उपासना नहीं कहला सकती है। भले ही आप उपासना-विषयक वेदमंत्रों का पाठ कर रहे हों। तो प्रश्न उठ सकता है कि इन उपासना-विषयक वेद मंत्रों का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर है, मनुष्यों को उपासना मार्ग पर प्रेरित करना।

भजन कीर्तन-उपासना नहीं :- बहुत से लोग भजन-कीर्त्तन में भाव-विभोर हो जाते हैं। गर्दन हिलने लगते हैं। आंखें बंद हो जाती हैं। अश्रुधारा भी बहने लगती है। यह तो सत्य है कि आप ईश्वर के भजन में तल्लीन हैं और कोई सांसारिक विचार आपको स्पर्श नहीं कर रहा है किंतु यह भी उपासना नहीं है क्योंकि आपके तन में नहीं तो मन में हलचल है भले ही वह ईश्वर विषयक हो। किंतु, यह भी सत्य है कि इस व्यक्ति को उपासना में सफलता शीघ्रता से मिल सकेगी। यदि वह उपासना मार्ग पर उन्मुख हो जाए।

शुद्ध पवित्र जीवन उपासना नहीं :- एक और भी श्रेणी के लोग हैं जिन्हें ऐसा लगता है कि वे 24 घंटे ईश्वर के सान्निध्य में हैं। उन्हें उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते ईश्वर का ध्यान-भान बना रहता है। इन्हें ऐसा लगता है जैसे कि वे 24 घंटे उपासना में बिताते हैं। निःसंदेह इस श्रेणी के लोग अच्छी कोटि के हैं किंतु उन्हें उपासना का एक भ्रम मात्र है। इन व्यक्तियों से भी हमारा आग्रह है कि उनके 24 घंटे जैसे बीत रहे हैं वैसे ही बिताएं किंतु मात्र दस मिनट प्रतिदिन विशुद्ध उपा. सना में बिताएं, जब घर के एक कोने में वे समाचार पत्र, टी.वी., फोन, इंटरनेट, कम्प्यूटर आदि सबसे दूर होकर मात्र ईश्वर के साथ हों।

उपासना विधि पतंजलिकृत योगदर्शन में :- ऊपर की पंक्तियों में हमने देखा कि मंत्रपाठ उपासना नहीं है; भजन-कीर्त्तन उपासना नहीं है; ईश्वर के सान्निध्य का भान होना भी उपासना नहीं है। तो फिर, उपासना कैसे करनी है? इसमें हमें पतंजलिकृत योगदर्शन से मार्गदर्शन मिल सकता है। महर्षि दयानंद जब वेदभाष्य करने को प्रवृत्त हुए तो उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रतिज्ञा विषय में वेदों के उपासना परक भाष्य पर निम्नलिखित शब्द लिखे :- "....उपासनाकांड विषयक मंत्रों के विषय में भी पतंजलि (योग), सांख्य, वेदांत शास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना।" अर्थात् महर्षि दयानंद मानते थे कि वेदों में ईश्वर की उपासना विषयक जो भी शिक्षा है वह पतंजलिकृत योगदर्शन में है। अतः हम पतंजलिकृत योगदर्शन का आश्रय लेते हैं कि ईश्वर-उपासना कैसे करनी है।

पतंजलि के तीन योग

महर्षि पतंजलि के योगदर्शन में 4 अध्याय हैं। पहला अध्याय समाधिपाद कहलाता है व बाद के क्रमशः साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद कहलाते हैं। इस ग्रंथ के आरंभ में वे योग की परिभाषा लिखते हैं:-

***योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः* (योग 1.2)**

***तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्* (योग 1.3)**

अर्थात् चित्त की समस्त वृत्तियों का निरुद्ध हो जाना योग कहलाता है। जिसे हमने मन कहा है उसके ही तीन अंग हैं- चित्त, अहंकार और मनस्। चित्त को ही सांख्य में बुद्धि और महत् भी कहा है। यही आत्मा के सामने दर्पण की भांति एक सूक्ष्मतम उपकरण है जिस पर हमें इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द) उपस्थित होकर बोध कराते हैं। अहंकार में हमारी स्मृति है - पूर्वजनित कर्मों के संस्कार व पूर्वसंचित ज्ञान का यह कोष है। मनस् ही ज्ञानेंद्रियों से एक-एक करके ज्ञान प्राप्त करके अहंकार को प्रेषित करता है, जो इसे भविष्य के लिए संजोकर भी रखता है और चित्त पर दिग्दर्शित भी कर देता है, जैसे सिनेमा के श्वेत पर्दे पर चित्र आते-जाते रहते हैं। मनस् के ही बारे में महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन (1.1.16) में कहा है :-

युगपज्ज्ञानानुपत्तिर्मनसो लिंगम्

अर्थात्–पांच ज्ञानेंद्रियों में से किसी एक इंद्रिय का ही एक समय में ज्ञान मनस् द्वारा ग्रहण किया जाता है। किंतु, यह सब इतनी तीव्र गति से होता है (संभवतः प्रकाश की गति से भी अधिक) कि हमें लगता है कि हम एक ही समय में वक्ता को देख भी रहे हैं और सुन भी रहे हैं। वस्तुतः एक क्षण वह चक्षु के द्वारा लाया ज्ञान (रूप) संप्रेषित करके चित्त को पहुंचाता है और अगले ही क्षण श्रोत्र द्वारा लाया ज्ञान (शब्द)। यह सब इतनी तीव्र गति से होता है कि हमें ऐसी प्रतीति होती है कि हम वक्ता को देख भी रहे हैं और सुन भी रहे हैं। चित्त पर रूप और शब्द के अंकित होने के बाद हम विचारपूर्वक निश्चय करते हैं कि वक्ता की बात सही है या गलत। यह निश्चय करने की प्रक्रिया भी चित्त पर ही होती है, किंतु इस गतिविधि (निश्चयात्मक वृत्ति) के कारण इसी उपकरण को बुद्धि कहते हैं। बुद्धि चित्त का ही दूसरा नाम है। बुद्धि पूर्वक किए गए निर्णय को संपादन करने के लिए अब श्रोता (मैं) वक्ता से कुछ प्रश्न कहना चाहता है। बुद्धि पूर्वक वह शब्दों का चयन करके अहंकार को संप्रेषित करता है जो फिर मनस् तक यह पहुंचाता है। अब मनस् कर्मेंद्रियों के (मुख्यतः वाक्) माध्यम से अपना प्रश्न वक्ता के सम्मुख रखता है। इस प्रकार चित्त (=बुद्धि) पर ज्ञान प्रकाशित होता है और बुद्धिपूर्वक निश्चय करके आत्मा कर्म का संपादन करता है। इस प्रकार ज्ञान–कर्म का सिलसिला अनवरत चलता रहता है।

आत्मा मन के खोल में जैसे मुट्ठी में अंगूठा :– आत्मा व मन (अर्थात् चित्त, अहंकार और मनस् का संघात) को उपनिषद् में ऐसे समझाया गया है जैसे मुट्ठी में अंगूठे की स्थिति होती है। अंगूठा हमारी आत्मा है जो हथेली रूपी मन से लिपटा हुआ है। हथेली का भीतरी हिस्सा चित्त है – जिसे आत्मा सदैव निहारती रहती है। मुट्ठी का बाहरी हिस्सा मनस् है जो ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों से जुड़ता है। मुट्ठी की एक मध्य परत अहंकार है जिसमें हमारा पुराना ज्ञान और हमारे कर्म संस्कार के रूप में संजोए हुए हैं जो हमने ही विगत वर्षों में (पिछले जन्म में भी) अर्जित किए थे।

जीवन सिनेमा की भांति :– मोटे तौर पर समझ लेना चाहिए कि हमारी खोपड़ी में कहीं एक छोटा–सा सिनेमा हॉल जैसा एक खोल है; एक अंधेरी गुफा है जिसका आकार सुई की नोंक से भी करोड़ों गुणा छोटा करने पर जो आकार बनेगा उससे भी बहुत छोटा है। उस सिनेमा हॉल में हम चित्त रूपी पर्दे पर चित्र देखते रहते हैं। कई बार तो निद्रा में भी चित्र चलते रहते हैं जिसे स्वप्न कहते हैं। जब रात

की नींद में स्वप्न भी रुक जाएं तो उसे गाढ़ी नींद कहते हैं – सुषुप्ति। तो योग की लगभग ऐसी ही दशा है–चित्त रूपी पर्दे पर कोई भी वृत्ति न हो। लेकिन सुषुप्ति से यह स्थिति इस प्रकार भिन्न है कि सुषुप्ति में हमें हमारी चेतनता का भी भान नहीं होता है क्योंकि हम बिल्कुल बेसुध हो जाते हैं, जबकि योगाभ्यासी को अपना भान बना रहता है जिसे पतंजलि ने योग (1.3) में व्यक्त किया है–(योग की दशा में जब चित्त की समस्त वृत्तियां रुक जाती हैं) तब द्रष्टा आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होता है।

आत्मा के भीतर परमात्मा :– अब प्रश्न उठता है कि आत्मा का स्वरूप क्या है। सामान्य दृष्टि से आत्मा सूक्ष्म अणु, अजर, अमर, अपरिणामी आदि गुणों वाला है। यह भी सही है किंतु उपासना के प्रसंग में आत्मा के स्वरूप का सही आशय होगा–आत्मा परमात्मा की गोद में है। यह इसलिए भी सही है कि आत्मा सूक्ष्म है तो परमात्मा सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है। परमात्मा आत्मा के भीतर भी व्याप्त है। ऐसा बोध हो जाना ही उपासना है अर्थात्, यह अब प्रामाणिक रूप से स्पष्ट हो गया है कि–

1. उपासना की सिद्धि तब होती है जब योग की सिद्धि हो जाती है–चित्त की समस्त वृत्तियां रुक जाती हैं। सिनेमा बंद हो जाए।
2. वेद की इस शिक्षा को महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन के माध्यम से प्रस्तुत किया है कि उपासना की सही विधि क्या है।

क्लेश = अविद्या :– महर्षि पतंजलि फिर पांच प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख करते हैं – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। उनका आगे का कथन उस चित्त के लिए है जो क्लेश रहित है–अक्लिष्ट। यदि यह कथन क्लेशयुक्त चित्त के लिए होता तो वे क्लेश की परिभाषा यहां दे देते किंतु उन्होंने क्लेश की परिभाषा दूसरे अध्याय में क्रियायोग के प्रसंग में दी है। क्लेश शब्द बोलचाल में भी प्रयुक्त होता है जिस कारण से बहुत से लोग इसका अर्थ करने में जल्दबाजी कर जाते हैं। किंतु योगदर्शन का विषय गूढ दार्शनिक है अतः उसे समझने में बहुत धैर्य रखना चाहिए। महर्षि पतंजलि इसे मोटे तौर पर अविद्या मानते हैं जिसके कारण भविष्य में दुःख आ सकते हैं।

लोग क्लेश (अविद्या) का आशय समझने में बहुधा भूल कर जाते हैं अतः एक उदाहरण अपेक्षित है। कल्पना कीजिए– दो–तीन वर्ष का एक बालक है (या, बालिका है) जो अपने माता–पिता के घर में निश्चिंत होकर जीवनयापन कर रहा है। यह बालक क्लेश से युक्त है क्योंकि इसे विद्या का अभ्यास नहीं हुआ है–अर्थात् अविद्या से ग्रस्त है। उसे नहीं पता है कि उसकी चेतनता उसकी आत्मा का गुण है या उसके मन का अथवा तन का। जैसे–जैसे बड़ा होता जाएगा वह विद्या प्राप्ति

द्वारा अपनी अविद्या से छुटकारा भी प्राप्त कर सकता है। किंतु, अभी हम इस बालक की गतिविधि पर ही ध्यान दे रहे हैं जो अधिकांशतः क्लेश पूर्ण कोटि में ही आएंगी। किंतु फिर भी बालक सुखपूर्वक जीवन जीता है यदि माता-पिता थोड़े भी सम्पन्न हैं। आवश्यकतानुसार उसे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, को मिल जाता है और माता-पिता का सान्निध्य भी। हां, कभी भूख के मारे दु:ख का आभास होता होगा किंतु उसकी मां उसे तुरंत भोजन-दूध दे देती है। इसके अतिरिक्त खेल-कूद में यदा-कदा गिर पड़ता है, चोट खाता है तो दु:खी भी हो जाता है। इस प्रकार, उसका जीवन अच्छा सुखपूर्वक बीत रहा है, सिवाय यदा-कदा दु:ख की पीड़ा के। ध्यान देने की बात है कि भले ही अविद्या से ग्रस्त है किंतु वह किसी को हानि नहीं पहुंचाना चाहता, न ही किसी को दु:ख देना चाहता है। उसकी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए तो वह सुख ओर संतोष से युक्त जीवन जीता है।

क्लेश का अशुद्धि को जन्म देना :- कल्पना कीजिए, अब आप 20 वर्षों के बाद इस बालक से मिलते हैं। अब वह अबोध बालक नहीं है-एक नवयुवक है। उसकी शिक्षा और उसके संस्कारों के आधार पर हम दो संभावनाएं देखेंगे वैसे अनगिनत संभावनाएं हैं। पहली संभावना है कि उसने उपासना की शिक्षा पाकर उसका संपादन करते हुए न ही अपने माता-पिता का अच्छा पुत्र बनने की दिशा में सफलता प्राप्त की है अपितु ईश्वर-पुत्र कहलाने का अधिकारी बनने में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। इसके फलस्वरूप उसकी अविद्या भी कुछ कम हुई है-जैसे, पतंजलि ने योग 2.2 में व्यक्त किया है-इस नवयुवक के क्लेश (=अविद्या) में कुछ कमी आई है। दूसरे छोर पर हम दूसरी संभावना देखते हैं कि यह नवयुवक सांसारिक दौड़ में आगे बढ़ने में पर्याप्त प्रयत्नशील है। वह इंद्रिय-सुख की अभिवृद्धि करने के लिए सांसारिक साधनों को जुटाने में लगा हुआ है। यदि अवसर प्राप्त हो तो धोखाधड़ी से भी अर्थसंचय में संलग्न हो जाता है। इस (दूसरे) नवयुवक के चित्त में अविद्या कम तो नहीं हुई। उसने उपासना द्वारा अविद्या/क्लेश को कम करने का कोई प्रयत्न ही नहीं किया तो उसके चित्त में क्लेश (=अविद्या) के चलते अब अशुद्धि (मैलापन) भी आ गया है। अब वह बालवत् निर्मल सरल स्वभाव का नहीं है बल्कि एक चालाक व्यक्ति बन गया है।

योग, क्रियायोग और अष्टांग योग :- एक अबोध (क्लेशयुक्त) बालक की यह कथा पतंजलि के योगदर्शन को समझने में सहायक हो सकती है। द्वितीय अध्याय का आरंभ वे क्रियायोग से करते हैं जिसका उद्देश्य क्लेश (=अविद्या) को कम करना है। फिर योग 2.16 (हेयं दु:खमनागतम्) से लेकर योग 2.26 तक वे तर्कपूर्ण ढंग से समझाने का प्रयत्न करते हैं कि यदि क्लेश (= अविद्या) से क्रियायोग

द्वारा छुटकारा नहीं पाओगे तो जीवन में दु:ख बढ़ेगा और स्थिति इतनी बिगड़ जाएगी कि चित्त में क्लेश के साथ-साथ अशुद्धि भी प्रवेश कर जाएगी। फिर 2.28 से वे अष्टांग योग का उपदेश करते हैं-उन मनुष्यों के लिए जिन्होंने समय रहते क्रियायोग से लाभ नहीं उठाया और चित्त में अशुद्धि को प्रवेश करने दिया। ऐसे मनुष्यों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के महाव्रतों का पालन करके (जिसे अष्टांग योग का यम कहते हैं) अशुद्धि का क्षय करना आवश्यक है। महर्षि दयानंद ने महर्षि पतंजलि के उपदेश की उपादेयता को देखकर उन्हें भगवान् पतंजलि भी लिखा है। सच में, उनका उपदेश सबके लिए कल्याणकारी है। मानव समाज में कोई भी ऐसा नहीं है जो योगदर्शन से लाभान्वित न हो सके। उनके द्वारा दिया गया उपदेश निम्न प्रकार से मानवमात्र के लिए लाभदायक हो सकता है:-

1. प्रथम कोटि के मनुष्य वे हैं जिनके पूर्वजन्म के संस्कारों के बलपर चित्त में क्लेश नहीं है – उनके लिए 'योग' का उपदेश दिया है, जिसकी अंतिम परिणति निर्बीज समाधि है – प्रथम अध्याय 'समाधिपाद'' में।
2. द्वितीय कोटि के मनुष्य वे हैं जिनके चित्त में क्लेश है किंतु अशुद्धि ने जन्म नहीं लिया है। वे खाने-पीने, ओढने-पहनने में सुख पाते हैं किंतु इस सुख के चक्कर में कोई अनैतिक काम नहीं करते हैं। इस कोटि के व्यक्तियों के लिए 'क्रियायोग'' का उपदेश दिया है कि क्लेश कम होता जाए और वे ''योग'' (प्रथम अध्याय के उपदेश) के अधिकारी बन सकें। ''क्रियायोग'' का उपदेश द्वितीय अध्याय के पूर्वार्द्ध में है। 2-3 वर्ष के बालक की ऐसी स्थिति है।
3. तृतीय कोटि के मनुष्य वे हैं जिनके चित्त में क्लेश के रहते अशुद्धि का प्रवेश हो गया है – इनके लिए ''अष्टांग योग'' का उपदेश दिया गया है, द्वितीय अध्याय के उत्तरार्द्ध में। उपरोक्त दृष्टांत में वह बालक अब एक चालाक व्यक्ति बन गया है जिसके लिए अष्टांग योग उपयुक्त है।

भगवान् पतंजलि की करुणामयी वाणी से कोई मनुष्य अछूता नहीं रह सकता है। सब परमात्मा की गोद में बैठने के अधिकारी बन सकते हैं। जैसे हर बच्चे को माता/पिता की गोद में बैठने का अधिकार है वैसे ही हर मनुष्य को परमात्मा की गोद में बैठने का अधिकार है। अपितु यदि कोई मनुष्य उपासना मार्ग पर चलकर अधिकारी नहीं बनता है तो पशुवत् ही जीवन बिता दिया।

5

पतंजलि का अष्टांग योग और वैदिक संध्या

प्राचीन ऋषियों ने पतंजलि योग की उपासना परक शिक्षा को जनसामान्य तक पहुंचाने के लिए संध्या (अर्थात् संध्योपासना) का निर्माण किया और समझाया कि प्रतिदिन हमें प्रातःकाल और सायंकाल संध्या करनी चाहिए। संध्या शब्द भी अति सुंदर है – इसमें दो अर्थ निहित हैं। प्रथमतः, सम्यक्पूर्वक (सम्) किया जाने वाला ध्यान। अर्थात्, संध्या का अर्थ हुआ–भली प्रकार से किया गया ध्यान। हम पहले ही देख चुके हैं कि योग, उपासना, ध्यान, संध्या, ब्रह्मयज्ञ आदि शब्द एक ही आशय के हैं। द्वितीयतः, संध्या शब्द का अर्थ दिन और रात की संधि है। इस शब्द के दूसरे अर्थ में यह निहित है कि संध्या दिन में दो बार करनी चाहिए – प्रातःकाल सूर्योदय के समय और सायंकाल सूर्यास्त के समय।

संध्या गायत्री जप ही है :– महर्षि दयानंद अपने ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में लिखते हैं :– ''यह संध्योपासना एकांत देश में एकाग्रचित्त से करें।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः।। मनु 2.104

यह मनुस्मृति का वचन है। जंगल में अर्थात् एकांतदेश में जा, सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री–मंत्र का उच्चारण अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल–चलन को करे।''

अर्थात्, संध्या का मुख्य अर्थ गायत्री मंत्र का जप ही है। इसके पूर्व मनुस्मृति (2.101) में भी यही अर्थ आता है:-

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्।।

अर्थात्, संध्या गायत्री मंत्र का जप ही है। अब प्रश्न उठता है कि जप किस प्रकार किया जाए?

जप के चार अनुक्रम :- सामान्यत: लोग समझते हैं कि जप का अर्थ है उच्चारण पूर्वक पाठ करना। जप के वस्तुतः चार प्रकार हैं- वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। प्रथम तीन प्रकार को क्रमशः वाचिक, उपांशु और मानसिक भी कहते हैं। इन चारों प्रकार के जप को समझ लेना आवश्यक है।

1. **वैखरी (वाचिक)** - जब हम वाणी से जप करते हैं जो बिखर कर आस-पास बैठे लोगों को भी सुनाई देता है।
2. **मध्यमा (उपांशु)** - जब हम खुसुर-पुसुर कर धीमी ध्वनि में बोलते हैं कि केवल हमारे बगल में बैठे व्यक्ति को बहुत ध्यान देने पर सुनाई पड़े।
3. **पश्यन्ती (मानसिक)** - जब हम मन से मात्र होठों को हिलाएं और कोई ध्वनि बाहर न निकले। अर्थात् मन तो जप कर रहा है किंतु तन से कोई शब्द बाहर नहीं निकल रहा।
4. **परा** - जब मन में भी जप न हो रहा हो किंतु आत्मा उस मंत्र के अर्थ की भावना में डूब गया हो। इसे ही पतंजलि ने ''तज्जपस्तदर्थभावनम्'' (योग 1.28) कहा है। अर्थात् योगाभ्यासी जब उपासना के गहरे क्षण में पहुंच जाए तब उसका जप तन-मन से होता हुआ इनसे अछूता हो जाए। न तन को उस मंत्र का भान हो और न ही मन को।

तो गायत्री जप की सही विधि क्या होगी? उसके अर्थ का चिंतन करता हुआ (जो महर्षि दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है) वह वाणी से पाठ करता रहे फिर क्रमशः यह पाठ की ध्वनि कम होते-होते अत्यल्प हो जाए- अर्थात् वह वैखरी (वाचिक) से मध्यमा (उपांशु) पर आ गया है। यह स्वत: ही होता जाएगा जैसे आपकी उपासना में रुचि उत्पन्न होती जाएगी क्योंकि फिर जोर से उच्चारण करना अशक्य हो जाता है। तत्पश्चात् इसी क्रम में आपका पाठ अत्यल्प ध्वनि का होता जाएगा जब केवल होंठ हिल रहे होंगे। इसका मतलब हुआ कि अब जप मध्यमा (उपांशु) से पश्यन्ती (मानसिक) हो गया है। फिर उपासक की एक स्थिति आ जाती है कि अब होठों को हिलाना भी अशक्य हो जाता है और अब तन-मन से वह अलग होकर प्रभु की गोद में पहुंच गया है। अब तो साक्षात् प्रभु के भर्गः का प्रकाश दिख रहा है।

वैदिक संध्या में गायत्री जप :- अब पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि संध्या की विधि गायत्री जप है तो वैदिक संध्या में ''ओं शन्नो देवी.... से लेकर ''ओं नमः शम्भवाय च....'' तक के इतने सारे मंत्रों का संकलन क्यों किया गया है। वैदिक संध्या के मंत्रों पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि अंत में गायत्री मंत्र की ही प्रमुखता है। गायत्री मंत्र का ऊपर निर्दिष्ट विधि से जप किया जाना चाहिए। इस प्रकार जब गायत्री मंत्र का जप किया जाए तब वे उपासना के क्षण होंगे। उपासना की अंतिम परिणति समर्पण भाव से होती है जब उपासक सहसा ''हे ईश्वर दयानिधे!....'' द्वारा अपने समर्पण भाव को व्यक्त करता है। इसके बाद प्रभु से विदा लेने के पूर्व नमस्कार मंत्र (ओं नमः शम्भवाय च...) का पाठ करता है।

वैदिक संध्या की संगति अष्टांग योग से :- अतः हम कह सकते हैं कि ऋषि प्रणीत वैदिक संध्या गायत्री जप ही है और गायत्री मंत्र से पूर्व के पठित मंत्रों द्वारा हम स्वयं को उपासना के लिए तैयार कर रहे होते हैं। वैदिक संध्या पर लेखक द्वारा लिखित पुस्तक ''संध्योपासना - एक वस्तुपरक विवेचन'' में विस्तार से चर्चा की गई है। संक्षेपतः, वैदिक संध्या की विधि और इसकी अष्टांग योग से संगति निम्न प्रकार है:-

यम - नियम :- आचमन मंत्र (ओं शन्नो....), इंद्रिय स्पर्श (ओं वाक् वाक्. ...) और मार्जन मंत्र (ओं भूः पुनातु शिरसि....)।

आसन :- साधक सुखासन, सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन में बैठ ही चुका है।

प्राणायाम :- प्राणायाम मंत्र (ओं भूः......)। प्राणायाम की विधि इस प्रकार है -

1. मूलाधार पर ध्यान केंद्रित करके शनैः-शनैः दीर्घ श्वास को नासिका छिद्रों से बाहर फेंके। इसे रेचक कहते हैं।
2. पूरा वायु बाहर निकल जाए तो उसे बाहर ही रोके रखें और मन ही मन में ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः का पाठ करें। इसे बाह्य कुंभक कहते हैं। जब भीतर बेचैनी होने लगे तो,
3. शनैः शनैः श्वास को नासिका छिद्रों के मार्ग से भीतर खीचें और भीतर वायु पूरी भर लें। इसे पूरक कहते हैं।
4. वायु को भीतर रोके रखें और मन ही मन मे ''ओं भूः... ओं सत्यम्'' का पाठ करें। इसे आभ्यंतर कुंभक कहते हैं और बेचैनी होने लगे तो वायु को बाहर फेंकने लग जाएं, जो प्राणायाम का रेचक होगा। इन चार चरणों में एक प्राणायाम इस प्रकार पूरा हुआ। महर्षि दयानंद लिखते हैं कि इस प्रकार न्यूनतम तीन और अधिकतम इक्कीस प्राणायाम करें।

प्रत्याहार :- अघमर्षण मंत्रों (ओं ऋतञ्च..., ओं समुद्रादर्णवादधि...., ओं सूर्याचन्द्रमसौधाता...) के द्वारा ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता और सर्वत्र व्याप्त जानते हुए मन को समझाना कि संसार में सुख के लिए जहां भी जाओगे वहां उसे ही पाओगे और उसी की गोद में जाने के लिए उपासना की जा रही है। तो मन बाहरी इंद्रियों से वियुक्त होकर शांत बैठने को उद्यत होवे।

धारणा :- मनसापरिक्रमा के छः मंत्रों द्वारा (ओं प्राची दिगग्नि.... से ओं ऊर्ध्वादिग् बृहस्पतिः...) मन को समझाना कि भीतर अंतःकरण में भी हर दिशा में प्रभु को ही देखो और जानो। अब अंदर के संसार में भी चलायमान होने का समय नहीं है। उसी प्रभु की गोद में जाने का उपक्रम उपासना है जिसमें मन का सहयोग अपेक्षित है।

ध्यान :- उपस्थान के चार मंत्रों (ओं उद्वयं ..., ओं उदुत्यं..., ओं चित्रं..., ओं तच्चक्षुर्देवहितं...) में अब अंतर्गुहा की यात्रा की जा रही है। सांख्यसूत्र (6.25) ''ध्यानम् निर्विषयं मनः'' की स्थिति हो गई है-आत्मा मन से वियुक्त होकर अपनी गुफा में जा रही है। वह परमात्मा के अत्यंत समीप पहुंच गया है अतः इसे उपस्थान कहा है क्योंकि वह परमात्मा के निकट के स्थान पर पहुंच गया है। जैसे, बच्चा मां से लिपट गया है। अब मां झुक कर उसे गोद में ले लेगी तो उपासना से वह कृतार्थ हो जाएगा।

समाधि :- सहसा वह स्वयं को प्रभु की गोद में पाता है। अब साधक सागर की गहराई में पहुंच गया है जहां जल में कोई गति नहीं है। उसके तन-मन में कोई गति नहीं है। गायत्री मंत्र का जप अपने चौथे स्तर पर पहुंच चुका है जहां न वाणी है, न विचार है। जैसे बच्चे की दोनों आंखें मां की आंखों में खो गई हैं। ये जो थोड़े -कुछ क्षण इस अवस्था में उसे प्रसाद के रूप में प्रभु से मिल गए हैं - यही उपासना है। शेष सब कुछ (जिसमें ओं शन्नो... से लेकर गायत्री मंत्र तक का उच्चारण, प्राणायाम आदि है) इस उपासना की तैयारी मात्र थे।

जब वह इस डुबकी से बाहर निकलता है तो सहसा समर्पण मंत्र (हे ईश्वर दयानिधे!...) बोल कर, ओं नमः शम्भवाय च... पाठ करके प्रभु से विदा लेता है। इस प्रकार हमने देखा कि ऋषि प्रणीत संध्या पतंजलि के अष्टांग योग का एक व्यावहारिक रूप है। किंतु, दु:ख इस बात का है कि आज के युग में इक्का-दुक्का ही कोई व्यक्ति होगा जो पूरी श्रद्धा से ऊपरनिर्दिष्ट विधि से संध्या के माध्यम से उपासना करता होगा। प्रायः सब लोग संध्या के मंत्रों का पाठ करके उठ जाते हैं कि संध्या हो गई जिसमें न ही ध्यान की स्थिति है, योग-उपासना-ब्रह्मयज्ञ का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यही मूल कारण है कि आज समाज अधोगति को प्राप्त हो गया

है। जिस बच्चे को मां से प्रेम नहीं है वह दूसरों से क्या प्रेम संबंध बनाएगा। एक व्यक्ति को प्रभु से ही प्रेम नहीं है जिसकी कृपा से उसकी सांस चल रही है तो वह समाज में एक अच्छा नागरिक कैसे बनेगा। प्रभु से प्रेम की एकमात्र पहचान है – प्रभु की गोद में जाने की तीव्र इच्छा जैसे एक बच्चा मां की गोद में जाना चाहता है।

इसी उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है कि जनसामान्य में संध्या के माध्यम से ईश्वर–उपासना के प्रति रुचि उत्पन्न हो और साथ ही साथ उसे ईश्वर–उपासना की विधि का ज्ञान हो। महर्षि दयानंद का अत्यंत उपकार है कि जो ऋषिप्रणीत संध्या लुप्त हो गई थी, उसका उन्होंने पुनरुद्धार किया। लेकिन दुःख की बात है कि लोग इसका लाभ नहीं उठा रहे हैं। इसका मुख्य कारण तो यह है कि लोगों को संध्या की सही विधि ही नहीं मालूम है जिसको ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है। जो पाठक वैदिक संध्या के मंत्रों व उनके अर्थ से सुपरिचित नहीं हैं, वे लेखक की ही तद्विषयक पुस्तक से लाभ उठा सकते हैं। अन्यथा किसी भी आर्य समाज में या वैदिक पुस्तक विक्रेता से संध्या पर पुस्तक प्राप्त कर सकते हैं।

गायत्री संध्या अल्प समय में :– संध्या को उपासना के ढंग से न करने का एक और व्यावहारिक कारण है। यदि ऊपरनिर्दिष्ट वैदिक संध्या सही ढ़ंग से की जाए तो उसमें न्यूनतम 35–40 मिनट लगते हैं। आधुनिक काल में बहुत से व्यक्तियों के पास इतना समय निकाल पाना संभव नहीं होता। वे संध्या के मंत्रों का पाठ 10–15 मिनट में कर के उठ जाते हैं। ऐसा समझ लेने से कि संध्या हो गई, ऐसा समझने मात्र से संध्या नहीं होगी। संध्योपासना से जो आत्मिक उन्नति होनी चाहिए वह मंत्रपाठ से कदापि नहीं हो सकती क्योंकि आत्मिक उन्नति के लिए परमावश्यक है कि आत्मा परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करे। महर्षि दयानंद ने उपासना की स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक लौहपिंड को भट्ठी में रखे जाने का उदाहरण दिया है। कोयले की भट्ठी लाल–नारंगी रंग की हो जाती है और जब उसमें काले रंग के लोहे का एक गोला डाल दिया जाता है तो गर्म होकर उसका रंग भी जलते कोयले के अंगारों जैसा लाल हो जाता है। यहां लौहपिंड की उपमा आत्मा के लिए है और भट्ठी परमात्मा के लिए।

अब प्रश्न उठता है कि क्या हम 10–15 मिनट में भी उपासना का लाभ प्राप्त कर सकते हैं? वैदिक ऋषियों की कृपा से इस प्रश्न का उत्तर "हां" में है। संध्या का रहस्य गायत्री जप में छिपा है। उसका लाभ उठाते हुए अब हम गायत्री संध्या पर विचार करेंगे। गायत्री संध्या के द्वारा एक साधक 10–15 मिनट में उपासना का लाभ उठा सकता है जो कि शास्त्र सम्मत है।

6

पतंजलि का क्रियायोग और गायत्री संध्या

हम पूर्व पंक्तियों में देख चुके हैं कि भगवान् पतंजलि ने मानवमात्र के कल्याण के लिए योग, क्रियायोग और अष्टांग योग का उपदेश दिया। योग का उपदेश विशुद्धतम चित्त के मनुष्यों के लिए है, जहां क्लेश लेशमात्र भी न हो। दूसरी कोटि में वे मनुष्य हैं जिनके चित्त में क्लेश (=अविद्या) उपस्थित है। इस द्वितीय कोटि के लिए क्रियायोग का उपदेश है। इस कोटि का मनुष्य क्रियायोग से लाभ न उठाए तो ऐसी संभावना रहती है कि वह तृतीय कोटि का हो जाएगा, जब चित्त का क्लेश (=अविद्या) अशुद्धि के रूप में परिणत हो जाएगा। ऐसे तृतीय कोटि के मनुष्यों को अष्टांग योग का उपदेश दिया गया है। भगवान् पतंजलि के बाद के ऋषियों ने अष्टांग योग का व्यावहारिक रूप हमें वैदिक संध्या के रूप में दिया। दुर्भाग्य से यह भी लुप्त हो गई थी जिसका महर्षि दयानंद ने आधुनिक काल में पुनरुद्धार किया।

इस वैदिक संध्या के मूल में गायत्री मंत्र का जप है जो साधक को ईश्वर-उपासना तक ले जा सकता है। जिससे स्पष्ट है कि क्रियायोग को सार्थक करने वाली संध्या में भी गायत्री मंत्र का जप होगा। गायत्री मंत्र के जप की विधि भी हम देख चुके हैं जो क्रमशः वैखरी (वाचिक), मध्यमा (उपांशु), पश्यन्ती (मानसिक) होते हुए ''परा'' की स्थिति पर पहुंच जाए, जब वाणी और विचार विराम की स्थिति पर पहुंच

गए हैं – बस, आत्मा परमात्मा की गोद में है। किसी का भी कुछ भी भान नहीं है – न ही गायत्री मंत्र और न ही उसके अर्थ का। गायत्री मंत्र भी एक वाहन मात्र था जिस पर चढ़कर साधक प्रियतम प्रभु से मिलने आया था। प्रभु के अत्यंत निकट पहुंचकर साधक वाहन से भी उतर जाता है और प्रियतम से जैसे गले लग गया हो।

गायत्री संध्या का उपक्रम :– इसे हम गायत्री संध्या कह सकते हैं। इसकी विधि ऊपर लिख ही दी है। पर दैनिक जीवन में इसको ढालने में कुछ बातों का ध्यान रख सकते हैं। प्रातःकाल पूरी नींद लेकर उठें अलार्म घड़ी से उठने पर आशंका रहती है कि नींद पूरी हुई या नहीं। नित्यकर्म (मल–मूत्र का त्याग, मंजन से मुख की शुद्धि, आंखों में ताजे शीतल जल के छींटे आदि) के बाद घर के ही एक शांत कोने में बैठ जाएं। घर के बाहर कोई वन–उपवन का शांत क्षेत्र हो तो वहां भी जा सकते हैं, जहां तेज पवन न हो, मच्छरों का प्रकोप न हो, समतल भूमि हो जिस पर एक कंबल को तह करके बिछा दिया हो। ढ़ीले स्वच्छ वस्त्र पहने हुए हों। स्नान आवश्यक नहीं है किंतु कर लें तो बुराई भी नहीं है। हां, स्नान करने के चक्कर में इतना विलंब न हो जाए कि सांसारिक गतिविधियां उपस्थित हो जाएं। आप स्वयं स्नान करने या न करने का निर्धारण करें–यह वैकल्पिक है। सही समय सूर्योदय के पूर्व का बताया गया है। किंतु, यदि देर से उठें हैं तो देर से ही सही। हां, खाली पेट होना चाहिए।

अब आप एक कंबल को कुछेक तह देकर उसे भूमि पर बिछाकर उस पर बैठ गए हैं। शरीर को सुखासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन की मुद्रा में लाकर बैठ जाएं।

दोनों हाथ घुटने पर रख सकते हैं अथवा एक हथेली दूसरी हथेली पर अथवा दोनों हाथों की उंगलियां परस्पर गुंथी हुई हों। जैसा भी स्वाभाविक लगता हो। यदि इस मुद्रा में 10–15 मिनट बिना हिले–डुले बैठने का अभ्यास नहीं है तो दीवार का सहारा ले लें। यदि शरीर बहुत स्थूल है या घुटनों को मोड़ने पर पीड़ा होती है तो एक सामान्य कुर्सी पर बैठ जाएं, जिस पर हत्थे न हों– भोजन–मेज (डायनिंग टेबल) की कुर्सी ठीक रहेगी। सोफा इसके लिए कदापि ठीक नहीं है। कहने का आशय है कि मुख्य उद्देश्य ईश्वर –उपासना है, शेष सब साधन मात्र हैं। ईश्वर –उपासना करनी ही करनी है और अपने तन या मन को किसी प्रकार आलस्य या प्रमाद न करने दें–उन्हें दृढता से बता दें कि मुझे प्रभु मिलन करना ही है और किसी प्रकार का कोई बहाना नहीं चलेगा। तन और मन को आपकी दृढता का शीघ्र ही पता चल जाएगा और शीघ्र ही वे सहयोग देने लगेंगे।

गायत्री संध्या के माध्यम से प्रभु की गोद में :– अब आप सही मुद्रा में बैठ गए हैं– योग की भाषा में आपने ''आसन'' साध लिया है। अब आप तीन प्राणायाम

कर लें जैसा कि पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है। किंतु, यह भी आवश्यक नहीं है। मात्र एक बार गहरी श्वास बाहर निकाल कर, आंखें बंद करके गायत्री मंत्र का उच्चारण आरंभ कर सकते हैं। ध्वनि का स्तर धीरे-धीरे न्यून होता जाए। 2-3 बार के उच्चारण के बाद यह इतना कम हो जाए कि केवल बगल में बैठे व्यक्ति को सुनाई दे। पुनः उसके बाद केवल होंठ हिलें और कोई ध्वनि बाहर न निकले। अब, आंखों के बंद रहते हुए अपने मन को ललाट पर केंद्रित करें, विशेष कर दोनों भौंहों के मध्य के क्षेत्र पर। कल्पना कीजिए कि वहां परमात्मा का अनंत प्रकाश है जिसे भर्गः कहते हैं। बस, उसी में खो जाइए। इस स्थिति में रहते हुए कोई विचार की तरंग उठने वाली हो या मन की कोई हलचल होती हो तो मन को ''ओम्'' कह कर शांत बैठने की हिदायत दें-यह हिदायत की ध्वनि मानसिक ही हो, वाणी से न निकले। ऐसी हिदायत के बाद मन कुछ अवधि के लिए शांत हो जाएगा। पुनः कुछ हलचल प्रतीत हो तो पुनः उसे ''ओम्'' द्वारा शांत बैठने का निर्देश दें।

जितनी देर तक अच्छा लगे उतनी देर तक बैठें। आरंभ में, 8-10 मिनट से अभ्यास आरंभ कर सकते हैं। गायत्री संध्या के बाद कोई आवश्यक काम करणीय हो तो उतनी देर का अलार्म लगाकर बैठें ताकि कोई आवश्यक कार्य छूट न जाए। फिर उपासना के क्षणों में मन उस काम की याद दिलाए तो मन को समझाएं कि आसन लगा लिया है। यदि गायत्री संध्या द्वारा ईश्वर-उपासना का अभ्यास अच्छा लगता हो और रुचिप्रद लगने लगा हो तो इसकी अवधि बढ़ाकर 20-30 मिनट भी कर सकते हैं। सायंकाल सूर्यास्त के समय भी कर सकते हैं। सायंकाल शौच जाने की आदत है तो अत्युत्तम। सायंकालीन भोजन से पूर्व करना उचित है। यदि पूरा दिन ही अत्यधिक व्यस्त रहता हो कि प्रातः और सायं समय ही न निकल सके तो शयन पूर्व ही कर लें किंतु दिन में एक बार न्यूनतम तो ईश्वर-उपासना अवश्य करें, भले ही 4-5 मिनट में। कोई भी दिन ईश्वर-उपासना के बिना न बीते।

गायत्री मंत्र में भूः भुवः स्वः :- उपासना के क्षणों में क्या अनुभूति होनी चाहिए -इस विषय पर साधक के मन में शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। आखिर एक साधक को कैसे पता चलेगा कि वह उपासना मार्ग पर प्रगति कर रहा है। गायत्री मंत्र का अर्थ महर्षि दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में उत्तम ढंग से दे ही दिया है। उसका भाव इस प्रकार है। हे प्रभो! तुम भूः हो-अर्थात् तुम्हारी सत्ता है, तुम्हारा अस्तित्व है। यह तुम्हारा स्वाभाविक गुण है कि तुम सदा से बने हुए थे, हो और बने रहोगे। तुम स्वयंभू भी कहलाते हो। इस दृष्टि से हमारी सूक्ष्म आत्मा भी सदा से है और बना रहेगा। किंतु इस जगत् में मनुष्य के रूप में हम जन्म लेते हैं और इस ढ़ंग से तो हमारा अस्तित्व कुछ वर्षो का ही है। किंतु, उस भूः परमात्मा

ने हमारे मन में कुछ ऐसे संस्कार भर कर हमें इस नश्वर संसार में भेजा है कि हम यहां सदैव बने रहना चाहते हैं। हम नैसर्गिक रूप में मृत्यु से भय खाते हैं और इस संसार में बने रहना चाहते हैं। जैसे कि, उसका भू: में निहित गुण उसने हमारे भीतर भर कर हमें संसार में भेजा है–इसे चाहे सरवाइवल इंस्टिक्ट कह लें–यह पशु–पक्षी, कीट–पतंग में भी है।

हे प्रभो! तुम भुवः हो, तुम्हें कोई दु:ख छू भी नहीं सकता है। तुम कष्ट–दु:ख से सर्वथा अछूते हो। तुमने अपना यह गुण भी हमारे मन में कूट–कूट करके भरा हुआ है कि हमें जब भी किसी बात से या वस्तु से दु:ख होता है तो हम उस दु:ख से छुटकारा पाना चाहते हैं। हमारी उंगली को चाकू की धार का तनिक भी स्पर्श होते ही हम स्वचालित यंत्र की भांति अपनी उंगली को चाकू से दूर हटा लेते हैं। एक नन्हा बालक भी ऐसा ही करता है जबकि उसे अभी हमने कोई शिक्षा भी नहीं दी है। तुम हमें संसार में भेजने के पूर्व अपना भुवः का गुण हमारे मन में भर देते हो।

हे प्रभो! तुम स्व: हो– परम सुख स्वरूप। इसकी ही तो हमें चाह है। यह साधक सुख पाने के लिए संसार में अनगिनत ठिकानों पर जा चुका है लेकिन उसे कहीं सच्चा स्थिर सुख मिला ही नहीं। क्षणिक सुख मिला भी तो उसका आकर्षण कुछ दिनों में फीका पड़ गया। कुछ सुख के स्रोत ऐसे भी मिले जो कुछ समय बाद दु:ख में बदल जाते हैं। अब हार कर, वह आपके स्व: का स्वाद प्राप्त करना चाहता है, जो केवल आपके पास है। यह केवल मनुष्य को ही मिल सकता है, अन्य प्राणियों को नहीं। मनुष्यों में भी उन विशिष्ट कोटि के लोगों को जो उपासना मार्ग में सफल हो जाते हैं। अब यह साधक उपासना द्वारा उस स्व: को प्राप्त करना चाहता है। संस्कृत व्याकरण में गमन धातु प्राप्ति के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार 'स्वर्ग' शब्द बनता है – स्व: + ग जहां स्व: की प्राप्ति हो जाए। कुछ लोग भूल करके समझते हैं कि स्वर्ग कोई स्थान विशेष है। तथ्य यह है कि स्व: की प्राप्ति हमारे अंत:करण में ही संभव है, जहां आत्मा का निवास है और परमात्मा का भी जो कि सर्वव्यापक है। तो रहस्य यही है कि जब आत्मा अपने तन–मन के उपकरणों से वियुक्त हो जाती है तो परमात्मा से संयुक्त होने पर उसे स्व: के आनंदरस की प्राप्ति होती है। यही उपासना है।

गायत्री मंत्र का अर्थ :– गायत्री मंत्र का मुख्य भाव इन तीन शब्दों में ही आ जाता है। किंतु इसको और स्पष्ट किया गया है कि तुम सविता देव हो; हमें संसार में जन्म देकर भेजते हो और माता–पिता के समान हमारे हितकारी हो। तुम ही सबसे अधिक वरण करने योग्य हो। तुम्हारा भर्ग: अत्यधिक प्रकाश स्वरूप है, सूर्य से भी अधिक। वह दूर कहीं नहीं है, मेरे गर्भ में है। जहां मेरी आत्मा बैठी है, वहीं तुम्हारा

भर्ग: है और यह बिल्कुल भी संभव नहीं है कि मुझे तुम्हारा प्रकाश न दिखाई दे। भला, क्या यह संभव है कि सूर्योदय के बाद कोई कह सके कि मुझे सूर्य नहीं दिखाई दे रहा है। ऐसी ही स्थिति एक सच्चे उपासक की है। उसे साक्षात् भर्ग: दीखता है, बस आवश्यकता है कि वह अपने तन-मन से अलग हो जाए। जितना उसे भर्ग: का आभास होता जाएगा, उतनी ही उसकी बुद्धि पवित्र होती जाएगी और दैनिक जीवन भी उसका विलक्षण होता जाएगा क्योंकि शनै:-शनै: उसकी बुद्धि को इस भर्ग: से ही प्रेरणा मिलती जाएगी।

अत: गायत्री संध्या की परिणति एक उपासक के अंत:करण में उस स्व: स्वरूप परमात्मा के भर्ग: रूपी अनंत प्रकाश की हो। इसके सिवाय अन्य कोई भाव नहीं होना चाहिए। एक नए साधक को गायत्री मंत्र के मानसिक जप के भी निरुद्ध हो जाने के बाद क्या कुछ अनुभव हो सकते हैं; उन संभावनाओं का उल्लेख करना उचित होगा।

गायत्री मंत्र के अर्थ के परे उपासना के क्षण :- उपासना के क्षणों में एक साधक के मन की स्थिति की अनेक संभावनाएं हैं। मन भी एक गहरे समुद्र जैसा है जिसकी सतह पर ऊंची-ऊंची तरंगें उठती हैं और जितनी गहराई में पैठते हैं वहां जल उतना ही निश्चल होता जाता है। इसी प्रकार, एक छोर पर तो साधक के मन में विचार श्रृंखला एक के बाद एक उदित हो सकती है और दूसरे छोर पर जैसे गाढ़ी नींद में कोई सुध नहीं रहती है और समय (कालचक्र) थम जाता है, वैसी स्थिति भी हो सकती है। इन दो छोरों के मध्य में जो संभावनाएं उत्पन्न हो सकती हैं, वे निम्न प्रकार से हैं।

साधक शांत बैठा है किंतु एक विचार तरंग उसके मन में उदित हो जाती है। यदि वह उस विचार तरंग को एक द्रष्टा के रूप में कुछ दूरी बना कर देखे तो वह विचार तरंग धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है जैसे एक गेंद को हम धरती पर उछालते हैं तो वह उछलती-उछलती धरती पर शांत होकर बैठ जाती है या एक जलाशय में एक कंकर फेंकने पर तरंगें उठती हैं जो धीरे-धीरे ह्रास को पाकर अंतत: लुप्त हो जाती हैं और जलाशय शांत हो जाता है। इस प्रक्रिया में साधक को दृढ़ता बनाए रखनी है कि उसे विचार तरंग में उलझ नहीं जाना है। जरा-सी भूल हुई और वह विचार तरंग में प्रवेश करके विचार श्रृंखला में ऐसा खो जाएगा कि वह आंखें बंद करते हुए भी दुनियादारी में समा जाएगा। यह कदापि उपासना नहीं कहला सकती है। एक नए साधक को बहुत साहस के साथ सावधानी पूर्वक अपने मन का सामना करना पड़ेगा। हार नहीं माननी चाहिए और न ही अपने मन को भला-बुरा कहना चाहिए। आखिर, उसने ही अपने मन को इस स्थिति पर पहुंचाया है कि वह दो-चार

मिनट भी खाली नहीं रहना चाहता। यह निश्चित है कि अभ्यास करने से उपासना – मार्ग में उसकी अवश्य प्रगति होगी। उसे जब लगे कि एक विचार तरंग उसके मन में उदित हो रही है तब वह ''ओम्'' कह कर (मन ही मन में) उस विचार तरंग से छुटकारा पा सकता है। उपासना के आरंभिक अभ्यास में तो उसे ''ओम्'' का निर्देश देने का बहुत बार आश्रय लेना होगा। यहां तक कि यह भी संभव है कि गायत्री मंत्र के उच्चारण के बाद पांच मिनट जो वह शांत बैठा था, वह पूरी अवधि ''ओम्'' द्वारा निर्देश देने में ही बीत गई और उसके मन की हलचल 4–5 सैकेंड के लिए भी नहीं रुकी। कोई बात नहीं, उपासना के मार्ग पर प्रभु ही सहायता करेंगे। अपनी तरफ से अभ्यास छोड़ना नहीं है। साधक प्रभु की ओर एक पग आगे बढ़ाता है तो प्रभु दस पग निकट आ जाते हैं।

लेकिन, तब तो और भी भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब विचार तरंग उदित होकर विचारशृंखला का विकराल रूप ले लेती है और साधक जीवन के ताने–बाने में उलझ जाता है। ऐसी स्थिति हो जाने पर वह एक गहरा श्वास बाहर छोड़कर ''ओम्'' का मन में एक बार जप करें। पुनः मन को भौहों के मध्य एकाग्र करके ललाट क्षेत्र में भर्गः के प्रकाश को खोजें। पुनः विचार तरंग आने लगे तो ''ओम्'' द्वारा (मन ही मन में) मन को निर्देश देकर विचार तरंग को परे धकेल कर कुछ क्षणों के लिए मन की हलचल को रोक दें। यह सिलसिला चलता रहेगा और एक दिन ऐसा भी आ जाएगा कि साधक को उपासना की 4–5 मिनट की अवधि (गायत्री मंत्र के तीन प्रकार के जप के बाद की यह अवधि है – जब गायत्री मंत्र का जप हो रहा है तब उपासना की तैयारी हो सकती है किंतु उपासना नहीं हो सकती है) इसमें लगभग 50 प्रतिशत अवधि ऐसी मिल जाएगी जब मन की हलचल अत्यल्प थी। साधक को तब समझना चाहिए कि उसने प्राथमिक स्तर की सफलता प्राप्त कर ली है। जैसे कि पर्वतारोहण के समय वह एकदम भूतल के स्तर से ऊपर चढ़ कर एक पठार पर पहुंच गया है। अब पुनः कई दिनों के अभ्यास के बाद वह सहसा स्वयं को अगली ऊंचाई पर स्थित पठार को पाएगा, जहां मन में विचार तरंगों का अभाव है किंतु उसे चित्त पर चल रहे एक चलचित्र का आभास हो सकता है या श्वास के चलने का। बस, साधक को ध्यान रखना है कि मन को जिस किसी भी हलचल का भान हो रहा है, उससे भी उसे पीछा छुड़ाना है। वह जिस पठार पर है, निरंतर अभ्यास से उसे अगली ऊंचाई के पठार पर चढ़ना है। यह पर्वतारोहण कभी समाप्त नहीं होगा; इस पर चलते ही रहना है। यदि किसी पठार की स्थिति को अच्छा मनोहारी दृश्य समझकर पर्वतारोहण का अंतिम गंतव्य स्थल (या, पर्वत शिखर) समझ लिया तब उपासना–मार्ग स्वयं ही अवरुद्ध कर दिया।

अगले पठार की स्थिति कुछ ऐसी हो सकती है कि रंगीन चित्र उभर आता हो जैसे झील के पानी पर एक पत्ता गिरे तो एक बुदबुदा उत्पन्न हो जाता है। यह रंगीन चित्र चलचित्र जैसा बन सकता है। क्रमशः इसकी गति बहुत कम होती जाएगी, जैसे निश्चल आकाश उपस्थित हो गया हो, जहां कोई हलचल नहीं है। पहले आकाश का रंग गाढ़ा हो सकता है, फिर यह रंग भी गुलाबी, नारंगी या श्वेत हो सकता है। अब तक साधक ने कई पठार देख लिए हैं। विचार शृंखला का ताना-बाना, विचार तरंगों का प्रवाह, श्वास का सिलसिला, रंगीन छायाचित्र व चलचित्र, निश्चल आकाश – गाढ़े रंग का व हल्के रंग का।

कुछ साधकों का एक ऐसी स्थिति से भी सामना हो सकता है जब मन में भावुकता बहुत आ जाती है; आंखें भी नम हो जाती हैं कि कुछ अश्रुकण भी निकल सकते हैं। साधक को ऐसा भी लग सकता है कि जैसे प्रभु ने उसे गोद में ले लिया है कि उसका ही परिणाम है कि वह भावुक हो उठा है। यदि यह सत्य भी है तो भी इसे पर्वत शिखर न समझें। आगे भी, पर्वतारोहण करते रहना है। एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि उसे लगेगा कि वह शरीर की सीमाओं में नहीं बंधा हुआ है। भगवान् पतंजलि ने अनन्त समापत्तिभ्याम् (योग 2.47) कहा है जैसे कि साधक सान्त (अंत सहित) शरीर में न होकर अनंत में खो गया है। जब इस स्थिति से वह बाहर निकलता है, आंखें खोलता है तो सहसा उसे लगता है कि उससे हाथ नहीं उठ रहा है, उंगलियां अकड़ गई हैं। उसके मन की गतिविधियां इतनी न्यून हो गई थीं कि अपने तन को पुनः संचालित करने में कठिनाई हो रही है।

उपासक परफैक्ट नहीं किंतु परफैक्शन के मार्ग पर :- ऊपर की पंक्तियों में उपासना – मार्ग के विभिन्न पड़ावों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। मुख्य बात को पुनः दोहराना आवश्यक है।

1. यह अंतहीन यात्रा है, जिसे उपनिषद् की शैली में ''नेति नेति'' कह सकते हैं। अर्थात् कोई साधक स्वयं से पूछे कि क्या अब वह गंतव्य स्थल पर पहुंच गया है? तो उसे उत्तर मिला ''नहीं'' अभी और आगे जाना है। कई महीनों की साधना के बाद उसने पुनः वही प्रश्न पूछा तब भी उसे वही उत्तर मिला। यह यात्रा ऐसी ही है। तो एक सामान्य साधक घबरा जाता है कि यह कैसी यात्रा है, जिसका अंत ही नहीं है।

2. साधक इस यात्रा के जिस पड़ाव पर दैनिक अभ्यास में संलग्न है उस पड़ाव के लाभ उसे मिलते हैं जिसके अंतर्गत उसकी चहुंमुखी उन्नति हो रही है।

3. एक अन्य लाभ यह मिलता है कि वह अगले पड़ाव पर पहुंचने की योग्यता प्राप्त कर लेता है तब तो उसको और भी नए लाभ मिलने लगते हैं। फिर एक समय

ऐसा आ जाता है कि ईश्वर- उपासना उसके दैनिक जीवन का स्वाभाविक अंग बन जाती है। अब यह उतनी आवश्यक है कि इसके बिना उसका कोई दिन नहीं बीत सकता है। हर मनुष्य जानता है कि वह ''परफैक्ट'' नहीं बन सकेगा किंतु कोशिश करने से वह ''परफैक्ट'' बनने के मार्ग पर ही स्वयं को पाएगा।

हमने देखा कि ''गायत्री संध्या'' के रूप में वैदिक ऋषियों ने हमें ''क्रियायोग'' को व्यावहारिक ढ़ंग से पकड़ा दिया है। हम मात्र 5-7 मिनट का भी ईमानदारी से उपयोग करके ईश्वर उपासना के मार्ग के पथिक बन सकते हैं। वैसे हमने उपासना से होने वाले लाभ देख ही लिए हैं किंतु अगले अध्याय में प्रस्तुत पुस्तक का समापन करते हुए हम उपासना से प्राप्त होने वाले लाभों का क्रमिक वर्णन करना चाहते हैं ताकि उपासना-मार्ग के पथिक को आभास होता जाएगा कि जैसे-जैसे वह उपासना में प्रगति कर रहा है तो उसके दैनिक जीवन में क्या-क्या परिवर्तन संभावित हैं। इसके पूर्व हम पुस्तक की संपूर्णता को ध्यान में रखते हुए ''योग'' के लिए क्या मंत्र उपयुक्त है-इस पर विचार व्यक्त करना उपयुक्त समझते हैं।

पतंजलि के तीन योग, वैदिक संध्या और गायत्री संध्या :- हमने देखा कि मनुष्य समाज में निम्न तीन कोटियों को ध्यान में रखते हुए भगवान् पतंजलि ने योगदर्शन की रचना की ताकि संसार का प्रत्येक मनुष्य उपासना-मार्ग पर आरूढ़ हो सके।

1. जिसके चित्त/बुद्धि में क्लेश (=अविद्या) नहीं है इस कोटि के व्यक्ति के लिए प्रथम अध्याय ''समाधिपाद'' में ''योग'' का उपदेश दिया। ये प्रथम कोटि के मनुष्य हैं जिनकी संख्या आज के युग में न के बराबर ही होगी।

2. जिसके चित्त/बुद्धि में क्लेश है किंतु क्लेश ने अशुद्धि का रूप नहीं लिया है। ये सरल-सहज प्रवृत्ति के भले लोग हैं-बालक के समान जो अपनी जीवनचर्या में संलग्न हैं। प्रायः सुखपूर्वक जीते हैं किंतु, दुःखों से छुटकारा पाने के लिए या सुख प्राप्त करने के लिए वे अन्य प्राणियों को हानि नहीं पहुंचाते हैं। इस द्वितीय कोटि के मनुष्यों के लिए भगवान् पतंजलि ने द्वितीय अध्याय के पूर्वार्द्ध में ''क्रियायोग'' का उपदेश दिया जिसका व्यावहारिक ढंग ऋषियों ने ''गायत्री जप'' बताया जिसे हमने प्रस्तुत अध्याय में ''गायत्री संध्या'' के रूप में देखा। आज के युग में ऐसे व्यक्ति अत्यल्प संख्या में मिलेंगे। यदि कोई पाठक इस पुस्तक को यहां तक पढ़ चुका है और उसे उपासना में रुचि है तो संभावना है कि वह द्वितीय कोटि का है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना मुख्यतः द्वितीय कोटि के व्यक्तियों के लिए की गई है। किंतु उपासना की शक्ति में इतनी सामर्थ्य है कि तृतीय कोटि का व्यक्ति भी यदि ईमानदारी से ''गायत्री संध्या'' को दैनिक जीवन में अपना ले तो उसे द्वितीय कोटि

में सम्मिलित होने में विलंब नहीं होगा।

3. मनुष्य समाज में अवशिष्ट अन्य सब व्यक्ति तृतीय कोटि में माने जाएंगे जिन्होंने समय रहते अपने चित्त/बुद्धि के क्लेश (=अविद्या) को न्यून करने के लिए ''क्रियायोग'' (= गायत्री संध्या) के उपक्रम को नहीं अपनाया व उनके चित्त/बुद्धि में ''अशुद्धि'' उत्पन्न हो गई है कि उनके लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का विशेष उपदेश आवश्यक हो गया। इस कोटि के व्यक्तियों के लिए भगवान् पतंजलि ने ''अष्टांग योग'' का उपदेश दिया है जिसका व्यावहारिक रूप ऋषियों ने हमारे सम्मुख ''वैदिक संध्या'' के रूप में रखा। किंतु दुर्भाग्य है कि जनमानस ''वैदिक संध्या'' को उपासना के ढंग से नहीं करता है। उनके लिए मंत्रपाठ ही इतिश्री है जिसके कारण लोगों की अपेक्षित उन्नति नहीं हो रही है। इन व्यक्तियों के पास दो विकल्प हैं। प्रथमतः ''वैदिक संध्या'' को सही ढ़ंग से ईश्वर – उपासना के रूप में करें जिसका विस्तृत वर्णन लेखक ने एक पूर्व पुस्तक में प्रस्तुत में किया है। द्वितीयतः, ''गायत्री संध्या'' को स्वच्छ हृदय से अपनाने से भी उन्हें सफलता मिल सकती है।

योग और प्रणव ध्वनि :– पाठकों के मन में एक स्वाभाविक प्रश्न उठ सकता है कि ऋषियों ने ''अष्टांग योग'' का व्यावहारिक ढंग ''वैदिक संध्या'' बनाया और ''क्रियायोग'' का व्यावहारिक ढंग ''गायत्री संध्या'' बताया, तो ''योग'' का व्यावहारिक ढंग क्या है। महर्षि पतंजलि ने इस प्रथम कोटि के मनुष्यों के लिए प्रणव जप का विधान किया है। उनके लिए मंत्र मात्र ''ओ३म्'' की ध्वनि ही है। इस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है और जो लिखा उतना ही पर्याप्त है, जिससे पाठकों की उत्सुकता शांत हो सके क्योंकि प्रथम कोटि के मनुष्यों की संख्या आधुनिक काल में न के बराबर होगी।

7

उपासना-मार्ग के सोपान

पूर्व पृष्ठों में उपासना विषयक सब विषय आ ही गए हैं कि उपासना क्या है, क्यों और कैसे करें। किंतु विषय की सूक्ष्मता को देखते हुए यह आवश्यक है कि प्रस्तुत पुस्तक को कार्य-पुस्तक (वर्क बुक) का रूप दिया जाए। यह पुस्तक ऐसी नहीं है कि इसे एक बार पढ़कर एक तरफ रख दी कि सब समझ में आ गया। इससे प्रेरणा पाकर गायत्री संध्या के माध्यम से ईश्वर-उपासना के मार्ग का पथिक बनना है और ऐसे पथिक को प्रस्तुत अध्याय से सहायता मिलेगी। इस मार्ग पर क्या-क्या मील के पत्थर आएंगे जिससे पता चलेगा कि उपासना में किस ढंग से प्रगति हो रही है।

ईश्वर-उपासना उतनी ही स्वाभाविक जितना बालक के लिए मां का स्पर्शः- ईश्वर-उपासना का आशय है आत्मा का परमात्मा की गोद में पहुंचना। आप 1-2 वर्ष के एक बालक को ध्यान से देखिए वह कुछ देर यत्र-तत्र खेलकर मां के पास आ जाता है। मां उसे गोद में ले लेती है या उसके सिर पर हाथ फेर देती है। वह फिर खेलने लगता है। उससे कोई पूछे कि तुम अपनी मां के पास क्यों जाते हो तो वह प्रश्नकर्त्ता की नादानी पर हंस देगा या हक्का-बक्का रह जाएगा, क्योंकि इस प्रश्न का उसे कोई औचित्य ही नहीं दिखाई देता है। एक बालक का मां के पास जाने के पीछे कोई कारण भी होना चाहिए क्या? हम घर से बाहर जाते हैं तो कोई

कारण होता है लेकिन घर वापस आने का कोई कारण नहीं होता है। एक बालक के लिए मां का स्पर्श पाना इतना स्वाभाविक है कि इसका कोई कारण नहीं होता है। आपने ईश्वर-उपासना के मार्ग पर चलने का मन बना लिया है तो यह समझना भी आवश्यक है कि आप अपने आपको परमात्मा रूपी माता का नन्हा बालक समझें - आर्यः ईश्वरपुत्रः। तब गायत्री संध्या के माध्यम से आप उस मां का स्पर्श पाना चाहते हैं। एक सामान्य मनुष्य ईश्वर की उपासना द्वारा अपनी किसी आकांक्षा की पूर्ति चाहता है। किसी मंदिर, मस्जिद, चर्च या ऐसे किसी पूजास्थल पर प्रवेश करने वाले व्यक्ति से यदि पूछा जाए कि तुम यहां क्यों आए हो तो संभवतः वह कहेगा कि उसे कुछ चाहिए- परीक्षा में सफलता, घर में संतान, व्यापार में वृद्धि, मुकदमे में विजय इत्यादि। लेकिन यह व्यक्ति उपासना के मार्ग पर नहीं चल सकेगा। उपासना-मार्ग के पथिक के लिए आवश्यक है कि उपासना उसके लिए इतनी सहज और स्वाभाविक है जितनी उस नन्हे बालक के लिए मां का स्पर्श। मन में भाव है तो यह है कि मुझे मां से इतना कुछ मिला है और मन कृतज्ञता से पूरित है।

ईश्वर-उपासना मांगना नहीं अपितु कृतज्ञता ज्ञापित करना है

कुछ मांगने के लिए ईश्वर-उपासना नहीं की जाती है। ईश्वर-उपासना तब ही सफल होगी जब मन में भावना है कि मेरे पास किसी बात की न्यूनता नहीं है। जो ईश्वर सारे जगत् का स्वामी है उसके पुत्र को किसी प्रकार की कोई कमी का आभास नहीं होना चाहिए। बस, धन्यवाद देने की प्रबल भावना होनी चाहिए। एक नए उपासक को और कुछ न सूझे तो वह अपनी आंखों के लिए धन्यवाद दे सकता है जो उसे जगत् के दृश्य दिखाती है; कान से उसे सुनाई देता है; पैर चलते हैं; हाथ काम करते हैं इत्यादि। कहीं से आरंभ कर दें तो पता चलेगा कि यह अंतहीन सूची है - वायु, जल, अन्न, दूध, फल, शाक, औषधि, सूर्य, चंद्र, पति/पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री। आप किस-किस को गिनाकर धन्यवाद करेंगे। मन को कृतज्ञता की भावना से भरकर ही इस मार्ग पर चल सकते हैं। आपका मन आपकी कार है जो गायत्री मंत्र के पथ पर चल रही है और कृतज्ञता की भावना कार का ईंधन (पेट्रोल) है। गंतव्य स्थल है - प्रियतम प्रभु की गोद। वहां पहुंचने पर कार से उतरकर ही उसकी गोद में पहुंच सकते हैं-तब न मन (कार) साथ में होगा, न ही गायत्री मंत्र (पथ) चाहिएगा और न ही कृतज्ञता का भाव (पेट्रोल) - इन सब साधनों ने अपना काम कर दिया है। अब आप प्रभु की गोद में खो जाइए-उसे आपकी कृतज्ञता का रेशा-रेशा मालूम है तभी तो उसने आपको गोद में उठाया है। यदि वह गोद में न ले तो भी निराश नहीं होना है, अगले दिन फिर प्रयास करना है और यह प्रयास अनवरत चलता रहे। इस यात्रा के अपने लाभ हैं कि यह श्रम

बेकार नहीं जाएगा।

प्राथमिक स्तर के लाभ, मन की चंचलता में कमी और उसे विश्राम :- सबसे पहले हम प्राथमिक स्तर पर होने वाले लाभ को देखते हैं। गायत्री संध्या के माध्यम से की जाने वाली ईश्वर-उपासना का उत्कर्ष बिंदु है-मन की समस्त हलचल का रुक जाना ताकि हम (हमारी आत्मा) मन से वियुक्त होकर परमात्मा से संयुक्त हो सकें। उन क्षणों में मन गतिहीन होता है और उसे विश्राम मिलता है। इसका परिणाम यह होता है कि उपासक का व्यवहार शांत होता है। शनैः-शनैः उसमें क्रोध की संभावना कम होती जाती है। उसकी वाणी में माधुर्य आता जाता है। तेज आवाज में खिन्न होकर बोलने की संभावना कम होती जाती है। कुल मिलाकर उसके व्यवहार में शिष्टता का अंश बढ़ता जाता है जिससे उसके अन्य व्यक्तियों से संबंधों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

मन में उपासना से आंतरिक ऊर्जा का संचार होता है जिससे तनाव, चिंता, अवसाद (टेंशन, एंजाईटी डिप्रेशन) की संभावना में कमी आती है। उपासक को आलस्य-प्रमाद घेर नहीं पाते हैं। अब उसका समय अधिक अच्छे ढंग से बीतता है और जीवन में कुछ ऊंचा उद्देश्य बनाकर आगे बढने की कामना आती है। अब उसका जीवन निरुद्देश्य टाईम-पास जैसा नहीं हो सकता है।

नींद :- मन की हलचल को कम करने का अभ्यास हो जाने से नींद पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि नींद में हम तन और मन की हलचल को रोक कर तन और मन को विश्राम देना चाहते हैं। अब उपासक को आत्मविश्वास हो गया है कि मन की हलचल को रोकना उसके लिए शक्य है। अब बिस्तर पर जाते ही उसे पूर्व अपेक्षया शीघ्रता से नींद आ जाती है और नींद भी पहले की अपेक्षा गाढ़ी होती है, क्योंकि स्वप्न भी कम हो जाते हैं। जब हम स्वप्न देख रहे होते हैं तब हमारा मन गतिशील होता है। उपासना का अभ्यास होने से मन की चंचलता/गतिशीलता में जो कमी आती है उसका प्रभाव यह पड़ता है कि निद्राकाल में भी मन की हलचल कम हो जाती है और स्वप्न भी कम हो जाते हैं। अब उपासक प्रातः उठने पर अधिक तरोताजा अनुभव करता है। नींद गाढ़ी हो जाने के कारण मन की थकान अब कम अवधि में मिट जाती है तो निद्रा की अवधि में भी कमी आ जाती है। कुल मिलाकर, उपासना का नींद पर प्रभाव ऐसे पड़ता है कि -

1. नींद जल्दी आ जाती है,
2. नींद गाढ़ी हो जाती है क्योंकि स्वप्न कम हो जाते हैं,
3. पहले यदि 6-7-8 घंटे की नींद थी तो उसमें आधा-एक-डेढ़ घंटे की कमी हो जाती है, एवं

4. अब पूरा दिन स्फूर्ति और ऊर्जा से पूरित होता है और, दिन भी बड़ा हो जाता है क्योंकि नींद के घंटे कम हो गए हैं।

मन का अधिष्ठाता :- एक सामान्य व्यक्ति अपने मन की चाल चलता है । उसकी आत्मा व मन दो इकाई नहीं हैं किंतु दोनों इतनी अभिन्नता से जुड़ गए हैं कि एक हो गए हैं। उपासक को अब अभ्यास होने लगा है कि वह मन की हलचल को रोक कर उससे अलग हो सकता है। अब वह स्वयं को मन का अधिष्ठाता समझने लगता है और मन उसका एक उपकरण है। वह राजा है और मन उसका प्रधानमंत्री। वह महाप्रबंधक (जनरल मैनेजर/मैनेजिंग डायरेक्टर) है और मन उसका प्राईवेट सेक्रेट्री। अब वे दिन चले गए जब दूसरों के कहने पर उसने मन को बंदर के समान उछल कूद करते देखा था। अब मन उसका स्वामी, भक्त, सेवक है और वह स्वामी है। अब मन जो कहता है उस पर वह ध्यान अवश्य देता है किंतु मन के सारे सुझाव नहीं माने जाते हैं। केवल हितकारी सुझाव ही माने जाते हैं।

मन का काम है अपने स्वामी को संसार में यत्र-तत्र होने वाली घटनाओं से परिचित कराना। एक सामान्य व्यक्ति को किसी ने कटु शब्द कह दिया तो वह भी बदले में आगे बढ़ कर कटुतर शब्दों का प्रयोग करता था। किंतु, उपासक का दृष्टिकोण बदलने लगा है। वह समझ गया है कि मन का तो यह काम ही है कि मुझे बताना कि अमुक व्यक्ति ने मुझे क्या कुछ कहा है। लेकिन, यह तो अब मेरे ऊपर है कि मैं किसकी किस बात का कितना संज्ञान लूं और किसकी किस बात पर किस प्रकार से प्रतिक्रिया करूं। जैसे, समाचार पत्र तो सब प्रकार के समाचार लाते हैं किंतु यह तो पाठक पर निर्भर करता है कि वह किन समाचारों को पढ़े। इस प्रकार के अभ्यास से उपासक स्वयं को संसार से अछूता रखना सीख लेता है और अनेक घटनाओं से एवं अनेक व्यक्तियों के दुर्व्यवहार से विशेष प्रभावित नहीं होता। हाथी मस्त चलता जाता है और पीछे कुत्ते भौंकते रहते हैं -कुछ इस प्रकार की स्थिति को वह प्राप्त हो जाता है।

मन की एकाग्रता :- हमारे सब कार्यों की गुणवत्ता व सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कार्य करते समय मन की क्या गति थी। यदि पढ़ते समय मन पुस्तक पर न होकर इधर-उधर जा रहा हो तो कहने को तो पुस्तक पढ़ ली किंतु हाथ में विशेष कुछ नहीं आ पाता। यदि कार्य करते समय मन की चंचलता थम जाए और मन एकाग्रचित्त हो सके तो कार्य की सफलता सुनिश्चित हो जाती है। एक उपासक का अपने मन पर अपेक्षाकृत अच्छा नियंत्रण हो जाने के कारण उसके लिए यह आसान हो जाता है। इस प्रकार किसी कार्य को संपादित करने में समय भी कम लगता है। किसी समस्या के केंद्र बिंदु तक पहुंच पाना भी आसान

हो जाता है। ऐसी तीक्ष्ण, कुशाग्र बुद्धि जीवन पथ पर सदैव सहायक होती है। स्मृति से अपेक्षित जानकारी भी आसानी से प्राप्त हो जाती है।

मन का तन पर प्रभाव :- तन और मन का अति निकट का संबंध है। तन को खान-पान के द्वारा जो दिया जाता है उससे मन भी प्रभावित होता है। एक नशीला पदार्थ किसी को तुरंत उन्मत्त कर सकता है। शरीर की पीड़ा से मन भी डूब जाता है। उधर मन पर क्या बीत रही है, उसका तन पर प्रभाव पड़ता है। किसी के वियोग में मनुष्य इतना व्याकुल भी हो सकता है कि उसमें उठने की भी शक्ति न हो। कहते भी हैं कि-मन के हारे हार है और मन के जीते जीत। युद्ध में शत्रु सेना को यदि हताश कर दिया जाए तो विजय की संभावना बढ़ जाती है। उपासक के जीवन पर तो अनोखा प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि अब उसका मन चौबीस घंटे ऊर्जा और स्फूर्ति से भरा हुआ है। इसका प्रथम प्रभाव उसकी श्वास प्रक्रिया पर पड़ता है। अब उसकी श्वास क्रिया गहरी होने लगती है। प्राणवायु का शरीर में संचार बढ़ जाने से प्रत्येक रक्तकण के माध्यम से प्रत्येक कोशिका को पर्याप्त मात्रा में प्राणवायु की आपूर्ति होने लगती है। उसकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता बहुत बढ़ जाती है। वैद्य-डॉक्टर के पास जाने की आवश्यकता अत्यल्प हो जाती है। शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की कोशिकाओं को प्राण वायु पर्याप्त मात्रा में मिलने से अनावश्यक वसा (फैट) जलकर नष्ट हो जाता है तो शरीर पुनः सुंदर, सुडौल रूप धारण कर लेता है। एक विशेष प्रकार के सौंदर्य से शरीर खिल उठता है और इस रासायनिक प्रक्रिया से जहां कचरा जल कर नष्ट होने के तो लाभ हैं ही, इस प्रक्रिया से ऊर्जा भी बनती है। प्राणवायु की कमी के कारण एक सामान्य मनुष्य अधिक मात्रा में भोजन करता है जो अपनी पूरी ऊर्जा नहीं दे पाता है क्योंकि ऑक्सीजन (प्राणवायु) पूरी मात्रा में उपलब्ध नहीं होती है। अतः एक सामान्य व्यक्ति खाता तो अधिक है किंतु भोजन से ऊर्जा कम प्राप्त करता है।

द्वितीय स्तर पर मन की सफाई/सर्विसिंग :- उपासना की अवधि में मन को जो विश्रांति मिलती है उससे हमें क्या-क्या लाभ हो सकते हैं, इनका हमने संक्षिप्त दिग्दर्शन किया है। अब हम विचार करेंगे कि उपासना के द्वितीय स्तर पर जब हम मन से वियुक्त होकर प्रभु की गोद में हैं, तब उस प्रभु की कृपा से हमारे मन में क्या कोई परिवर्तन हो रहे होते हैं। प्रभु की अनंत कृपा है कि जैसे हमारी मां हमारे तन को दैनिक नहलाती थी वैसे ही परमात्मा उपासना के क्षणों में हमारे मन को स्वच्छ-शुद्ध कर देता है। यह प्रक्रिया नहलाने से भी एक पग आगे की है जैसे हम कार को एक मैकेनिक के हवाले कर दें तो वह कार की वाशिंग-सर्विसिंग करके कार हमें वापस दे देता है। कार स्वच्छ तो हो ही जाती है, उसमें जो भी खामियां

थीं वह दूर कर दी जाती हैं। इसी प्रकार, उपासना के क्षणों में जैसे कि हमारे मन की वाशिंग-सर्विसिंग हो जाती है। दैनिक क्रियाकलापों को करते समय मन में न जाने क्या-कुछ प्रवेश करके अपना आश्रय बना लेता है। बहुत कुछ तो वांछनीय है किंतु बहुत कुछ कूड़ा-करकट भी है जिसे हम मन से जितना जल्दी निकाल सकें उतना ही श्रेयस्कर होगा। समाचार पत्र, टी.वी., इंटरनेट आदि से हम बहुत सी अनावश्यक बेकार की बातें भी ग्रहण करते हैं। बाजार में चलते समय बहुत कुछ अनावश्यक भी हम ग्रहण करते जाते हैं। पारस्परिक संवाद व व्यवहार की प्रक्रिया में बहुत कटुता भी सम्मिलित रहती है और हमारे अपने ही जन्म-जन्मांतर के अनेक कुत्सित संस्कार भी डेरा डाल कर बैठे हुए हैं।

मन रूपी उद्यान का माली परमात्मा :- एक समझदार माली बाग में सुंदर क्यारी तैयार करता है और अच्छे बीज लगा देता है। जहां वह लगाए बीजों को खाद-पानी देता है वहां अनचाही झाड़-झंखाड़ को निर्दयता से उखाड़ भी देता है। यह दो तरफा कार्यवाही आवश्यक है यदि एक सुंदर उद्यान की रचना करनी है। वैसे ही, हम मन रूपी उद्यान में से अनावश्यक और हानिकारक झाड़-झंखाड़ कैसे निकालें जिनके रहते अच्छे संस्कार भी अंकुरित नहीं हो सकेंगे। मानव-समाज के पास मन की धुलाई-सफाई का कोई साधन नहीं है-केवल वैदिक संस्कृति ही हमें ईश्वर उपासना से ऐसा कुछ कर पाने में संभव बना सकती है। उपासना के क्षणों में प्रभु कुशल माली या मैकेनिक की भांति हमारे मन को स्वच्छ व शुद्ध कर देता है। जैसा कि भगवान् पतंजलि ने अष्टांग योग के प्रकरण में मन की ''अशुद्धिक्षय'' की बात कही है। (योग 2.28) कालांतर में, मन के काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, द्वेष आदि के संस्कार निर्बल होते जाते हैं और पूर्णतः लुप्त भी हो सकते हैं।

एक बालक के समान सरल सहज निर्मल व्यक्तित्व :- उपासक की प्रवृत्ति समय के साथ एक बालक के समान सरल, सहज, निर्मल होती जाती है। मुखमंडल पर स्वाभाविक निश्छल मुस्कान आने लगती है। एक नन्हे बालक को बताना नहीं पड़ता है कि क्या करो, क्या न करो, कब खाओ, कितना खाओ, कब सोओ, कितना सोओ इत्यादि। उसकी सारी गतिविधियां स्वाभाविक होती हैं। वह कुछ गलत नहीं करता है। वह काम, क्रोध, लोभ, मद, द्वेष से अछूता रहता है। वह स्वाभाविक नेचुरल जीवन जीता है और सब उस पर मुग्ध रहते हैं। एक उपासक की जीवन शैली भी कुछ इस दिशा में बढ़ती जाती है। ईश्वर-उपासना उपासक के मन की चाल को पूरा बदल कर ''रीसैट'' कर सकती है, जिसके दूरगामी परिणामों को समझना आवश्यक है। यह सत्य है कि एक मनुष्य का व्यक्तित्व उसके मन में ही अंकित है जिसे महर्षि कपिल ने ''अहंकार'' नाम दिया। मन

की एक तह में हमारे संस्कार जमा रहते हैं जिनके चलते एक मनुष्य नागनाथ बन जाता है और एक दीनानाथ बन जाता है। यदि उपासना के द्वारा हम अपने मन का कायाकल्प कर सकते हैं तो हम जो चाहे वैसा बन सकते हैं। वैदिक ऋषियों ने उपासना की इस सामर्थ्य को पहचाना और इसलिए उपासना को जन-जन तक पहुंचाने का अभिकल्प किया। इस विषय की गंभीरता को साक्षात् करने के लिए हम अपने मन की चाल पर ध्यान देना चाहते हैं। आखिर, हम सब अपने मन के दास बने हुए जीवन के क्षणों को खोते जा रहे हैं। अपने ही जीवन को हम अपने ढंग से नहीं जी रहे हैं जिसकी सामर्थ्य हम सबके पास है। प्रश्न है-क्या हम मन के बताए रास्ते पर चलते हैं या हमारा मन हमारे बताए रास्ते पर चलता है। डू आई लिव टू ईट अथवा आई ईट टू लिव। इस गंभीर चिंतन का आरंभ हम मन में गहरी पैठी हुई ''हीन भावना'' से करेंगे। जिसका लगभग हर व्यक्ति शिकार बन सकता है - इन्फीरियरिटी कॉम्पलेक्स।

मन में हीन भावना की ग्रंथि :- प्रत्येक मनुष्य गुण-दोष का पुलिंदा है। उसमें कुछ गुण हैं और कुछ कमियां हैं। जैसे, एक बालक बड़ा होता जाता है उसे अपनी कुछ कमियां दिखाई देने लगती हैं, विशेष कर जब वह दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आने लगता है। ऐसा कुछ उसके अंदर होने लगता है कि उसकी वह कमी उसके मन में इतनी समाने लगती है कि वह स्वयं के बनाए इस बोझ से दबने लगता है। यह हीन भावना अब उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है। आज के समाज में 100 में से 95 व्यक्ति हीन भावना से ग्रस्त मिलेंगे। अतः यह विषय हम सबके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हीन भावना उत्पन्न होने के लिए कोई बड़ी अनहोनी घटना होना आवश्यक नहीं है। एक बालक निर्धन परिवार का है। वह स्कूल में या आस-पड़ोस में अन्य बालकों को देखता है जो अधिक अच्छे कपड़े पहनते हैं। उनके घर-कार आदि में अधिक सम्पन्नता है। उसकी निर्धनता उसके अंदर हीन भावना उत्पन्न कर सकती है। एक धनी परिवार का बालक स्कूल में देखता है कि अन्य कुछ बालक अधिक बुद्धिमान् है और पढ़ाई-लिखाई में श्रेष्ठ हैं। इस कारण से उसमें हीन भावना घर कर सकती है। एक बालक संपन्न परिवार का है और बुद्धिमान भी है। किंतु किसी अन्य को खेल-कूद में आगे देखकर स्वयं हीन भावना से ग्रस्त हो सकता है। एक बालक हर तरह से गुण संपन्न है लेकिन उसके घर में उसके माता-पिता व्यर्थ विवाद करके घर का वातावरण क्लेश-पूर्ण बना देते हैं। वह अपने मित्र के माता-पिता के पारस्परिक सौजन्यपूर्ण व्यवहार को देखकर हीन भावना में डूब सकता है। कहने का आशय है कि इस संसार में यह तो असंभव ही

है कि किसी भी बालक को सब कुछ सर्वश्रेष्ठ कोटि का मिलेगा। कहीं–न–कहीं न्यूनता तो रहेगी ही। एक चक्रवर्ती सम्राट के बालक में भी। लेकिन वह न्यूनता उसके मन के किस कोने में बीज बनकर दैनिक खाद–पानी पाकर बड़ा रूप ले लेगी, इस तथ्य को हमने 100 में से 95 की संख्या देकर इस समस्या के विकराल रूप का दिग्दर्शन किया है। कुछ ही बच्चे इतने सौभाग्यशाली हैं कि अपनी कमियों को सहज भाव में स्वीकार करके अपने गुणों को, प्रतिभाओं को, आधार बनाकर जीवनपथ पर आगे बढ़ सकेंगे–100 में 5 संख्या ऐसे बालकों की है जो वयस्क होकर भी हीन भावना से रहित होंगे। दूसरे सिरे पर, कुछ बच्चे बचपन में ही हीन भावना से ग्रस्त हो जाते हैं और उनकी कुछ गतिविधि से यह पता भी चल सकता है जैसे अंगूठा चूसना आदि। लेकिन अधिकांश व्यक्ति इन 95 के समूह में हैं जो हीन भावना से ग्रस्त हैं और इससे बेखबर हैं।

हीन भावना के दुष्परिणाम :– जैसा कि हमने देखा, हर मनुष्य में कुछ प्रतिभाएं हैं तो कुछ कमियां भी हैं। हमें अपनी प्रतिभाओं के बल पर समाज में योगदान करना चाहिए। लेकिन हमारी कोई कमी हमें इतना अधिक निगल डालती है कि वह मन में ''हीन भावना'' के रूप में जड़ें मजबूत कर लेती हैं तो यह एक चिंता का कारण बन सकता है। यह चिंता तब भयानक रूप ले लेती है जब व्यक्ति विशेष अपनी हीन भावना को ढकने/दबाने के लिए अपनी किसी प्रतिभा–विशेष को अधिक दर्शाने लगता है। अर्थात् वह अपनी इन्फीरियरिटी को अपनी एक सुपीरियरिटी से ढ़कना चाहता है। समझ लीजिए एक निर्धन बालक अध्ययन में उत्कृष्ट कोटि का है। उसकी निर्धनता उसके अंदर हीन भावना को उत्पन्न नहीं करती तो वह अपनी शिक्षा के बल पर बड़ा होकर एक श्रेष्ठ विद्वान् बनकर अच्छा नागरिक बन सकता है। तब वह उन 5 सौभाग्यशाली व्यक्तियों में एक होता। लेकिन उसकी निर्धनता ने उसे हीन भावना से ग्रस्त कर लिया तो वह 95 व्यक्तियों के समूह में सम्मिलित हो गया है। उसके भीतर इन्फीरियरिटी कॉम्पलेक्स पनपने लग गया है। अब दो संभावनाएं उत्पन्न होती हैं। पहली, वह हीन भावना के बोझ तले एक दब्बू व्यक्ति बन सकता है, जिसमें आत्मविश्वास की कमी है। अर्थात् वह अपनी प्रतिभा के बल पर समाज में जितना योगदान दे सकता था, उससे बहुत न्यून मात्रा में कर पाएगा। दूसरी संभावना यह है कि वह हीन भावना को ढ़कने के लिए अपनी प्रतिभा (जो इस काल्पनिक व्यक्ति के पास उसकी शैक्षिक योग्यता है) को अधिक मुखरित/ प्रस्तुत करेगा। उसका यह प्रयास उसे इन्फीरियरिटी कॉम्पलेक्स से सुपीरियरिटी कॉम्पलेक्स की ओर धकेल देगा। एक तरफ कुंआ, दूसरी तरफ खाई। इसके कारण

भी उसके व्यक्तित्व में विसंगतियां उत्पन्न होंगी। हीन भावना से उसने अपने ढ़ंग से पीछा छुड़ाया है किंतु सुपीरियरिटी कॉम्पलेक्स (श्रेष्ठता की भावना) के रूप में जिस नई विसंगति का आश्रय लिया है, उसके कारण अन्य समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

श्रेष्ठता की भावना :- यह एक मुखौटा है और इसके कारण उसके जीवन में बनावटीपन आ जाता है। इसे छद्म व्यक्तित्व भी कहना गलत नहीं होगा। यदि यह काल्पनिक व्यक्ति उन 5 व्यक्तियों में होता तो इसकी निर्धनता और शैक्षिक योग्यता इसके साथ सरल, सहज ढ़ंग से जुड़ी रहती और कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। किंतु निर्धनता ने एक हीन भावना को जन्म दिया जो उसे अंदर ही अंदर से काटे जा रही थी और उसने अपनी शैक्षिक योग्यता से अपनी हीन भावना को (निर्धनता को नहीं) ढ़कने का प्रयास आरंभ कर दिया तो स्वाभाविक है कि वह अपनी शैक्षिक योग्यता का प्रदर्शन अधिक करेगा, जहां आवश्यकता नहीं भी है। असल में, अब यह व्यक्ति दुधारी तलवार से स्वयं को काट रहा है और इसके भयानक परिणाम निकल सकते हैं। अपनी श्रेष्ठता की भावना का अतिशय प्रदर्शन बहुत भारी पड़ जाता है; मुखौटे का भार स्वयं के लिए असह्य हो जाता है। और स्थिति तब बहुत बिगड़ जाती है जब समाज में मुखौटा उतारना भी असंभव हो जाता है। इस व्यक्ति को जरा-सी चोट भी असह्य हो जाती है। जैसे, इसकी शैक्षिक योग्यता पर किसी ने प्रश्न कर दिया तो इसे बहुत कष्ट होगा लेकिन सामान्य स्तर पर देखें तो किसी ने किसी अन्य विषय पर शिक्षा प्राप्त की है और किसी अन्य ने किसी अन्य विषय पर। कोई भी व्यक्ति हर विषय का विद्वान् नहीं हो सकता है और किसी एक विषय पर भी अनेक विद्वान् होते हैं जिनकी विद्वत्ता अलग-अलग स्तर की है और उनके दृष्टिकोणों में भी अंतर होता है। किंतु ''श्रेष्ठता की भावना'' वाले व्यक्ति के लिए ''उसकी शैक्षिक योग्यता'' बहुत मायने रखती है जैसे डूबते के लिए तिनके का सहारा। उसके मुखौटे पर यदि कोई छोटा-मोटा वार भी कर देता है तो उसे बहुत कष्ट, दु:ख, दर्द होता है। ऐसे व्यक्ति का स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है। यह स्थिति आगे चल कर चिंता या अवसाद (डिप्रेशन) का कारण भी बन सकती है जिसे हम दो उदाहरणों से समझेंगे।

श्रेष्ठता की भावना और किला/गुब्बारा :- एक राजा अपनी सुरक्षा को पुष्ट करने के लिए एक सुदृढ किला बनाता है। हीन भावना से ग्रस्त होने के बाद उससे पीछा छुड़ाने की भावना से हमारे काल्पनिक मित्र ने शैक्षिक योग्यता का आश्रय लेकर श्रेष्ठता की भावना का आश्रय लिया है। हीन भावना की नींव पर एक भवन बना ही हुआ था जिसे उन्होंने ध्वस्त नहीं किया। उसकी ही कमजोर

नींव पर मोटे–भारी पत्थर रख कर एक सुंदर–सा किला बनाने लगे जिसे देखकर सबकी आंखें चुंधिया जाएं। लेकिन कमजोर नींव उन भारी पत्थरों का भार कब तक ले सकती थी। एक दिन वह किला भूमि पर गिर जाता है। तब वह व्यक्ति डिप्रेशन का शिकार हो जाता है।

इसी से मिलता–जुलता उदाहरण गुब्बारे का है। बच्चे गुब्बारा फुलाते हैं और खेलते हैं। हम जानते हैं कि किसी गुब्बारे को एक सीमा से अधिक फुलाया जाएगा तो वह अवश्य ही फट जाएगा। किंतु हमारे काल्पनिक मित्र ने शैक्षिक योग्यता को ''श्रेष्ठता की भावना'' में परिवर्तित करके एक काल्पनिक गुब्बारे को फुलाना आरंभ कर दिया है। उसमें जब–तब हवा भरने लग जाते हैं। एक दिन अकस्मात् वह फट जाता है। तब उनकी डिप्रेशन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

हम 95 के समूह में :– ''हीन भावना'' और तज्जनित ''श्रेष्ठता की भावना'' पर हमने संक्षेप में किंतु पर्याप्त विचार कर लिया जो कि आवश्यक था क्योंकि यह मानने में ही समझदारी है कि हम 95 में से ही एक हैं। यदि हम उन 5 में से एक हैं तो हमें ईश्वर–उपासना के मार्ग का पथिक बनने में देर नहीं है या हम पथिक बन ही चुके हैं। समस्या इन 95 व्यक्तियों की है जिन्हें ईश्वर–उपासना की अधिक आवश्यकता है और इन्हें इस मार्ग का पथिक बनाना टेढ़ी खीर है। विशेषत: उन लोगों में जिनकी हीन भावना श्रेष्ठता की भावना में बदल चुकी है। वे स्वयं को श्रेष्ठ समझते हैं और उन्हें समझाना अति कठिन हो जाता है कि वे ईश्वर–उपासना को दैनिक जीवन में अपना कर अपने जीवन को नया मोड़ दे सकते हैं। इसलिए हमने ईश्वर–उपासना द्वारा मन की सफाई/सर्विसिंग की बात की थी। आईये, हम इस बात को स्वीकार कर लें कि हम उन 95 में एक हैं। समस्या की जड़ है–हीन भावना। यह हीन भावना कब कैसे उत्पन्न हुई–''हम एक मनोवैज्ञानिक के साथ घंटों बैठकर इसका पता कर सकते हैं किंतु संभावना अति न्यून है। फिर वह समझाएगा कि आपके जीवन में अमुक कमी थी जिसने हीन भावना ने विकराल रूप ले लिया। फिर आपको समझाया जाएगा कि आप उस कमी–विशेष को स्वाभाविक ढंग से स्वीकार लेते तो नौबत यहां तक नहीं आती, इत्यादि और यदि आप डिप्रेशन के शिकार हो जाते हैं तो मनोरोग चिकित्सक (साइकेट्रिस्ट) की सहायता लेनी पड़ेगी जो समझाने–बुझाने (सायकोथेरेपी) के अतिरिक्त दवा आदि भी दे सकता है।

हम ईश्वर–उपासना के रूप में वैदिक ऋषियों द्वारा बताई विधि को यदि अपना लें तो मन की सफाई/सर्विसिंग के माध्यम से मन का पूरा झाड़–झंखाड़ साफ हो जाता है। फिर ''हीन भावना'' नहीं रहती और न ही ''श्रेष्ठता की भावना'' पनप सकती

है। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। न ही आवश्यकता रहेगी कि हम आत्मविकास संबंधी ढेरों पुस्तकें पढ़ें जिनमें कई सुझाव दिए गए होंगे कि किस परिस्थिति में कैसे व्यवहार करना चाहिए। यह सब याद हो भी जाए तो भी उस परिस्थिति-विशेष में उस सलाह-विशेष को क्रियान्वित कर पाना भी आसान नहीं है। ईश्वर-उपासना को अपनाने के बाद तो आप ऐसे नेचुरल व्यक्ति बन सकते हैं कि जैसी भी परिस्थिति आएगी आप उसका पूरे आत्मविश्वास के साथ सरल-सहज ढंग से सामना कर सकेंगे। कहीं कोई बनावटीपन नहीं होगा। हां, आपकी रुचि है तो सेल्फ इम्प्रूवमेंट, सेल्फ डेवेलपमेंट, इमोशनल इंटेलिजेंस आदि विषयों पर पुस्तकें पढ़िए किंतु, एक उपासक को लगेगा कि भला, इस विषय पर भी पुस्तक लिखी जाती है।

झाड़-झंखाड़ के प्रति सचेत :- उपासना-मार्ग का पथिक अपने मन की उच्चस्तरीय वाशिंग/सर्विसिंग के बाद इस बात को लेकर सचेत हो जाता है कि अब वह अपने मन में अनर्थकारी झाड़-झंखाड़ को पनपने ही नहीं देगा। हां, वह उपासना की इस प्रक्रिया का भी दैनिक लाभ उठाता है कि वाशिंग/सर्विसिंग के माध्यम से झाड़-झंखाड़ हटा दी जाती है। किंतु, अब उसमें झाड़-झंखाड़ के प्रति अरुचि भी उत्पन्न हो जाती है। वह इसको लेकर अधिक सजग और सचेत हो जाता है कि ये उसके मन रूपी उपवन में उत्पन्न ही न हों। अब वह समाचार पत्र देखता है तो दो-चार मिनट में ही मुख्य समाचारों को भांप लेता है और पूर्व की भांति 30-40 मिनट नहीं खपाता है। वह इन्फोरमेशन, नॉलेज और विस्डम की श्रृंखला को पहचान गया है और अनावश्यक इन्फोरमेशन के जंजाल से दूर रहना चाहता है, किसी से भी वार्तालाप करते समय किसी अन्य व्यक्ति की निंदा, चुगली करने में अब उसे रुचि नहीं है। वह दूसरों के बारे में अनावश्यक बातें जानने में भी रुचि नहीं रखता है। पूर्व की अपेक्षा अब टी.वी., इंटरनेट, स्मार्टफोन पर उसका समय कम लगता है।

वह भौतिक वस्तुओं की उपयोगिता को बेहतर समझने लगा है। वह पूर्व की भांति भौतिक वस्तुओं को एकत्र करने में जुटा नहीं रहता है। जो वस्तु जितनी उपयोगी है उसका उससे उतना ही सरोकार है। जो वस्तु पहले उपयोगी थी किंतु अब उस वस्तु की उपयोगिता नहीं है तो वह उस वस्तु से मोहवश बंधा नहीं है। जैसे, बालपन के खिलौनों को संजोकर रखने की अपेक्षा अब किसी और के सुपुर्द कर देने में ही उसे भलाई दीखती है। अब, अनायास ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह उसके मन में आने लगते हैं- महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग के अंतर्गत यम के ये 5 अंग हैं।

तृतीय स्तर पर नई ऊहा-पोह और सृजनात्मकता :- स्वच्छ मन हो और शांत स्थिति में हो तो अनेक संभावनाएं उदित हो सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में परमात्मा

की कृपा से उपासक को तृतीय स्तर के लाभ के अंतर्गत नया ज्ञान, नई खोज, नए समाधान मिल सकते हैं। भगवान पतंजलि ने इस ज्ञान प्राप्ति को "सम्प्रज्ञात समाधि" (योग 1.17) कहा है। जैसे कि स्वच्छ व स्थिर स्लेट पर ही कुछ लिखा जा सकता है। उपासना के क्षणों में उपासक के मानस पटल पर नया कुछ अंकित हो जाता है। परमात्मा वही ज्ञान देगा जिसकी उपासक को आवश्यकता है अथवा जो उपासक के लिए लाभकारी होगा। आजकल ऐसी खोज की गई है और सर्वेक्षणों से पता चला है कि वैज्ञानिकों को नई खोज प्रायः तब प्राप्त होती है जब वे अपेक्षाकृत शांत मन की स्थिति हो जैसे स्नान करते समय, खिड़की से बाहर प्राकृतिक दृश्य निहारते हुए अथवा ऐसी ही किसी हल्की-फुल्की परिस्थिति में। कहने का तात्पर्य यह है कि माथे को खुजलाने या सहलाने से नई खोज नहीं प्राप्त होती है। आपके मन से वही निकलेगा जो आपने ही मन में पहले डाला होगा। अतः कोई नई खोज, नई दिशा प्राप्त करनी हो तो उपासना-मार्ग का कोई सानी नहीं। चाहे कोई वैज्ञानिक हो, दार्शनिक हो, व्यापारिक प्रतिष्ठान से संलग्न हो, कवि, चित्रकार, शिल्पकार, संगीतज्ञ या कोई सामान्य व्यक्ति ही हो जो किसी उपक्रम में संलग्न हो और दुविधाग्रस्त हो। ऐसी परिस्थिति में, परमात्मा उपासक का सही मार्ग दर्शन करता है, बशर्त्ते कि उपासक का मन उसके मार्गदर्शन को प्राप्त करने में सक्षम हो - शांत और निर्भय हो।

देवत्व की ओर :- हम मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं किंतु परमात्मा का आदेश है कि हम क्रमशः देवत्व की ओर बढ़ें। मनुष्य योनि अन्य पशु-पक्षियों से इतनी भिन्न है कि हमारे समाज में कोटियां हैं-उच्च कोटि के भी मनुष्य हैं; मध्यम और निम्न कोटि के भी हैं। किसी पशु-योनि में इस प्रकार की कोटियां नहीं होती हैं। सब गौओं में गौ-पन समान रूप से दिखाई देता है; घोड़ों में अश्वत्व एवं इसी प्रकार अन्य सब योनियों में। लेकिन, मानव समाज में कुछ उच्च कोटि के लोग होते हैं जो अन्यों को सुख देने में उद्यत रहते हैं-वे देवता कहलाते हैं। बहुधा लेन-देन में बराबरी रखते हैं जो मध्यम कोटि के हैं-मनुष्य कहलाते हैं। कुछ निम्न कोटि के हैं जो दूसरे का सुख छीन लेते हैं और दुःख देते हैं-वे राक्षस कहलाते हैं। ऋग्वेद (10.53.6) में परमात्मा का आदेश है-**मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्**। उसने हमें मनुष्य के रूप में संसार में भेजा है और हमसे अपेक्षा की जाती है कि हम अपने अंदर देवत्व को बढ़ाते जाएं। तब हमें दूसरों को सुख देने में अच्छा लगने लगता है। उपासना-मार्ग में आगे बढ़ते-बढ़ते उपासक में देवत्व का अंश बढ़ता जाता है। वस्तुतः देवत्व का मार्ग और उपासना-मार्ग एक ही है। जैसे-जैसे, उपासना में कोई आगे बढ़ता है तो उसमें देवत्व बढ़ता जाता है और जैसे-जैसे एक व्यक्ति में देवत्व

बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उपासना में सफलता की संभावना बढ़ती जाती है।

देवत्व की बात सुनकर एक सामान्य व्यक्ति का घबराना अत्यंत संभव है। उसे भय लगता है कि वह देवता बनने लगेगा तो सबको देने की भावना उत्पन्न होने लगेगी। इतना हमारे पास है ही कहां जो हम दूसरों को देने के चक्कर में पड़ें। जो कुछ है वह देने लग जाएं तो स्वयं कंगाल नहीं हो जाएंगे, यहां 'देने' से बहुधा लोग धन, भौतिक वस्तु इत्यादि अर्थ लगा लेते हैं। ''देने की भावना'' मन में उदित हो जाए तो सामान्यतः अधिक कुछ देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है जैसे कि हाल-चाल पूछ लेना किसी से मिलने चले जाना, मुस्कुरा कर मिल लेना, इत्यादि गतिविधियों को आप अपना लेंगे तो आपको स्वतः ही बहुत से रास्ते दीखने लगेंगे कि आप देवत्व के मार्ग पर चल पड़े हैं। इस मार्ग पर चले बिना उपासना-मार्ग में सफलता प्राप्त करना असंभव ही है।

देवत्व के मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं इसकी एक पहचान भगवान् मनु ने मनुस्मृति में बता दी है जो पुरुषों के लिए अति उपयोगी है - **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता**। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ इस प्रकार है कि यदि आप देवता कोटि के बन रहे हैं तो एक रूपवती युवती को देखने पर भी आपके मन में उसके प्रति पूजा और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होना चाहिए। यदि मन के एक कोने में काम वासना की तरंग उठती है तो समझ लेना चाहिए कि मेरी उपासना अभी शेष है।

आर्यः ईश्वर पुत्रः :- कहने को तो बहुत से लोग ***''त्वमेव माता च पिता त्वमेव***...*का* श्लोक गाकर परमात्मा को माता और पिता कह देते हैं किंतु उसे अपने माता-पिता के रूप में सच में मानना बहुत दूर की बात है। उपासना के क्षणों में सब साफ पता चल जाता है-दूध का दूध और पानी का पानी। जिस व्यक्ति में साहस है कि मैं अपनी आस्तिकता को माप कर देखना चाहता हूं, उसके लिए उपासना ही सही पैमाना है। करोड़ों लोग हैं जो स्वयं को आस्तिक कहते हैं। ईश्वर अस्तित्व को स्वीकार करके हम ईश्वर पर कोई कृपा नहीं कर रहे हैं। असल में, आस्तिकता तो यह है कि मुझे उससे प्रेम है, लगाव है जैसा एक बालक को अपनी माता व पिता से होता है। इस संबंध के दो पहलू हैं। प्रथम, बालक खेल-कूद में मग्न तो रहता ही है किंतु एक अवधि के बाद मां की ओर दौड़ पड़ता है। द्वितीय, जब बालक अपने खिलौनों और मित्रों को छोड़कर मां की ओर उन्मुख होता है तो उसकी मां भी उसे स्नेहवश गोद में ले लेती है।

एक उपासक के प्रसंग में भी ये दो पहलू उपस्थित होते हैं। प्रथम, क्या उसे परमात्मा के प्रति इतना लगाव है कि सांसारिक पदार्थों और संबंधियों को एक किनारे रखकर वह परमात्मा की ओर उन्मुख हो सके। इस संदर्भ में सबसे बड़ी

चुनौती है कि क्या वह अपने मन से वियुक्त हो सकता है। क्योंकि, यदि वह मन से जुड़ा हुआ है तो मन के माध्यम से संसार से भी जुड़ा है। इस मन की हलचल को रोक कर मन से परे हटकर ही उपासक परमात्मा की ओर उन्मुख हो सकेगा और यह एक ऐसी चुनौती है कि अच्छे-अच्छे लोगों को मुंह की खानी पड़ सकती है। आपकी आस्तिकता की परख आपको पता चल जाएगी। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि एक उपासक परमात्मा की ओर उन्मुख होकर चल पड़ा है, जैसे बालक मां की ओर। अब दूसरा पहलू, क्या परमात्मा उपासक को अपनी गोद में ले लेगा। यदि उपासक वास्तव में उसका पुत्र बनने का अधिकारी है तो परमात्मा अवश्यमेव उसे गोद में ले लेगा और उसकी उपासना सफल हो जाएगी।

ईश्वर-उपासना की विशेषता यही है कि जैसे-जैसे एक अति सामान्य व्यक्ति भी उपासना-मार्ग पर पहला पग आगे बढ़ाता है वैसे-वैसे उसे ईश्वर की सहायता मिलती है और यह मार्ग जो अति दुर्गम लगता है, वह भी सुगम होता जाता है, जैसे कि एक बालक के लिए मां की गोद में जाना। क्या हमने कभी ऐसी पाठशाला खोली है या ऐसी पुस्तक लिखी है जिसके द्वारा हम बालक को मां की गोद में जाने की कला सिखाते हों? नहीं, यह नैसर्गिक स्वाभाविक प्रक्रिया है। वैसे ही, एक सच्चे आर्य के लिए उपासना-मार्ग पर चलना स्वाभाविक बनता जाता है और, वास्तविक अर्थ में आर्य बनना है तो यही एक मार्ग है।

सुख शांति और आनंद :- मानव जीवन का एक प्रमुख उद्देश्य है-जीवन को सुखमय बनाना। एक सामान्य व्यक्ति विभिन्न भौतिक साधनों को जुटाता है कि उन भोग्य सामग्री से सुख मिल सके। किंतु, प्रायः जुटाने की प्रक्रिया ही इतनी दूभर हो जाती है कि सुख तो कम मिलते हैं लेकिन दुःख प्रचुर मात्रा में आ जाता है। हां, कुछ लोग सुख के साधनों का भंडार भर लेते हैं। किंतु उनका जीवन इतना सुखमय नहीं हो पाता है कि अब उन्हें कोई चाह शेष न रहे। लेकिन, हम यह भी जानते हैं कि अन्न, वस्त्र, घर-परिवार आदि की हमें आवश्यकता है क्योंकि इनके बिना जीना संभव नहीं है। हां, यह समझने की आवश्यकता है कि इन सब साधनों की एक सीमा तक ही आवश्यकता है-सारे भौतिक पदार्थ साधन ही हैं, जीवन के लिए परम-साध्य नहीं बन सकते हैं। हां, जब धन कमा कर उन्हें जुटाने का प्रयत्न चल रहा है तब वे भी लघुस्तर के साध्य हैं किंतु धन पर्याप्त मात्रा में कमाने लग गए हैं तो अब कुछ उच्चस्तरीय साध्य की ओर मुख मोड़कर पुरुषार्थ में लगना होगा।

सर्वप्रथम, हमें 'सुख' को समझना होगा जो हमें शरीर के द्वारा भोगने से प्राप्त होता है। यह इंद्रियसुख है - सेंसुअल प्लेज़र। जब हमारा मन और तन किसी भोग्य सामग्री का भोग करता है तो हमें एक प्रकार का सुख मिलता है, जैसे स्वादिष्ट

व्यंजन खाने पर रसना इंद्रिय के माध्यम से या कामक्रीड़ा में त्वचा इंद्रिय के माध्यम से। जब हमारी इंद्रिय-विशेष उस भोग्य सामग्री (विषय-विशेष) से अलग हो जाती है तो फिर सुख का प्रभाव कम होता जाता है और लुप्त भी हो जाता है। किंतु कभी-कभी उस सुख-विशेष की चाह हमें आकृष्ट करती है और उस विषय-विशेष को प्राप्त करने में हम पुनः संलग्न हो जाते हैं जिसे संस्कार-प्रेरित वासना भी कह सकते हैं। कभी-कभी यह वासना इतनी बलवती भी हो जाती है कि मनुष्य चोरी, हत्या, बलात्कार इत्यादि भी कर डालता है। तो, सारा खेल मन का है कि मन आपके बताए रास्ते पर चल रहा है या आप मन के बताए रास्ते पर चल रहे हैं।

आइए, इस इंद्रिय सुख पर कुछ और भी दृष्टि डालते हैं। इसमें सापेक्षिकता बहुत अधिक है। किसी को चाय पसंद है, तो किसी को कॉफी और किसी को मीठा मेवेयुक्त दूध। शीतल पेय में भी किसी को लस्सी अच्छी लगती है और किसी को नींबू-पानी। हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि इस संसार में ऐसा कोई भोग्य साधन/पदार्थ नहीं है जिसे पाकर हर मनुष्य को सुख मिल जाएगा। यह तो सुख की सापेक्षिकता की चर्चा हुई। हम ''सुख की अवधि'' की चर्चा कर ही चुके हैं कि हमें सुख की अनुभूति उतने ही काल तक रहती है जितने काल तक इंद्रिय-विशेष का विषय-विशेष से संपर्क है तो फिर, यह इंद्रियसुख होता ही क्यों है-यदि हम इसका प्रयोजन समझ लें तो हम जीवन को संतुलित रूप में जीने का उपक्रम कर सकेंगे। हमारी पांच ज्ञानेंद्रियां (देखना, सुनना, सूंघना, रसना और स्पर्श) जैसे कि शरीर रूपी किले के पांच द्वार हैं। संसार में और हमारे इर्द-गिर्द जो कुछ भी हो रहा है उसकी जानकारी हमें इनके द्वारा ही मिलती है। तथा, जो कुछ भी हमारे किले/शरीर में प्रवेश कर रहा है वह भी इन द्वारों से ही प्रवेश करता है जैसे भोजन। ये पांच इंद्रियां हमें तत्काल बता देती हैं कि अमुक पदार्थ हमारे लिए भोग्य है या नहीं। हम सब्जी मंडी में एक फूलगोभी देखते हैं जो मुरझाई हुई है और उस पर काले-पीले दाग हैं। आंखों ने ऐसा देखा और हमने निर्णय लिया कि इसे नहीं खरीदेंगे-अर्थात् 'देखने' की प्रक्रिया में वह फूलगोभी फेल हो गई है। फिर हमने एक खिली हुई सुंदर फूलगोभी खरीद ली। घर में उसे स्वादिष्ट ढ़ंग से पकाया गया और खाते समय हमारी रसना इंद्रिय को उसका स्वाद अनुकूल लगा। किंतु, ऐसा भी हो सकता है कि देखने, सूंघने, चखने में हमें वह अनुकूल लगे किंतु वैद्य ने गठिया के दर्द को ध्यान में रखते हुए हमें बताया हो कि वात की मात्रा कम रखनी है और उस कारण से फूलगोभी त्याज्य है। अर्थात्, इंद्रियों की परीक्षा के बाद भी फूलगोभी का शरीर पर दुष्प्रभाव पड़ सकता है कि वह किसी के लिए त्याज्य है। क्योंकि आगे दु:ख दे सकती है। कहने का अभिप्राय है कि इंद्रियों के

अनुकूल होने से ही कोई पदार्थ ग्राह्य नहीं हो जाता–इंद्रिय सुख मिलना इस बात की पहचान है कि प्रथम परीक्षा में पदार्थ–विशेष ग्राह्य है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें वह पदार्थ ग्रहण करना ही है और यदि ग्रहण करें भी तो एक सीमित मात्रा में। अर्थात्, एक सामान्य व्यक्ति जिसे इंद्रियसुख समझा बैठा है वह ''प्रथम परीक्षा'' की प्रक्रिया मात्र है–सेंसुअल प्लेजर एक प्रकार से नैसेसरी कण्डीशन है किंतु सफिसियेण्ट नहीं–किसी पदार्थ विशेष का सुखकारी होना अनिवार्य तो है किंतु यह पर्याप्त नहीं है।

सुख की चर्चा के बाद हम शांति पर विचार करते हैं। सुख–प्राप्ति में तन की अधिक भूमिका है किंतु यह भी हमें तब अनुभव होता है जब मन के द्वारा आत्मा तक प्रेषित हो गया हो। किंतु, शांति मुख्यतः मन की अनुभूति है जिसमें तन की भूमिका अत्यल्प मात्रा में होती है। जैसे, बच्चे ने हॉस्टल पहुंच कर मां को फोन किया कि वह सकुशल यात्रा पूरी करके पहुंच गया है तो मां का मन शांत हो गया। किसी गणितज्ञ ने गणित के कठिन प्रश्न का हल खोज लिया तो उसे शांति/आह्लाद की अनुभूति हुई या, किसी कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, शिल्पकार को अपनी कृति पूरी करने पर। परिवार में कोई रुग्ण था और उसे आरोग्य प्राप्त होने पर सबको अच्छा लगा। इन उदाहरणों में सापेक्षिकता कम है। अर्थात् उस परिस्थिति–विशेष में लगभग हर किसी को अच्छा ही लगेगा; हां, उन्नीस–बीस का अंतर हो सकता है और ''शांति की अवधि'' का काल भी बहुत दीर्घ हो जाता है–उस घटना विशेष का प्रभाव इस व्यक्ति–विशेष पर दीर्घकाल तक रहता है, उतना क्षणिक नहीं होता जितना इंद्रियसुख होता है।

सुख, शांति के बाद हम आनंद की चर्चा करना चाहते हैं। अभी तक हमने देखा कि सुख में सापेक्षिकता अधिक है, सुख–प्राप्ति की अवधि अत्यल्प है और इसकी प्राप्ति में तन और मन दोनों का सहयोग चाहिए। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि इंद्रिय–विशेष को सुख मिल सकता है तो दुःख भी मिल सकता है अर्थात्, सुख–दुःख का एक युग्म है। सुख का अकेले ही अस्तित्व नहीं है। इस श्रृंखला में, शांति में सापेक्षिकता कम है, शांति की अनुभूति व उसका प्रभाव दीर्घकाल तक रहता है और इसकी प्राप्ति में तन की अपेक्षा मन की भूमिका अधिक रहती है। हां, यह भी तथ्य है कि जहां मन शांत रह सकता है वहीं मन के अशांत होने की भी संभावना बनी रहती है। अर्थात् शांति और अशांति का भी एक युग्म है।

ईश्वर–उपासना का मार्ग एक अनोखा मार्ग है। वहां के उत्कर्ष बिंदु पर जब उपासक पहुंच जाता है तब तन और मन से वियुक्त होता है और फिर सुख–दुःख अथवा शांति–अशांति के युग्मों से भी परे हो जाता है। तब जो स्थिति प्राप्त होती है

उसे ऋषियों ने 'आनंद' की अनुभूति कहा है। इसमें सापेक्षिकता का सर्वदा अभाव है। भले ही एक उपासक को इस आनंद की अनुभूति कुछ क्षणों की ही प्राप्त हुई हो, इसका प्रभाव अत्यंत दीर्घकाल तक बना रहता है और यह एक अनोखा शब्द है कि इसका विपरीतार्थक शब्द नहीं है–बस, उस सच्चिदानंद ईश्वर की गोद में आनंद ही आनंद है। योग 1.17 में इस समाधि का उल्लेख है। यही आशय महर्षि कपिल ने सांख्य 5.116 में व्यक्त किया है–समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपतः।

जब उपासक को यह अनुभूति होने लगती है तो उसके अंदर अप्रतिम आत्मविश्वास जाग्रत होने लगता है कि उसे परमसुख का स्रोत मिल गया है और उसे प्राप्त करने के लिए वह किसी वस्तु/व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। यह उसके भीतर ही है। अब वह भौतिक पदार्थों (अन्न, वस्त्र, भवन, आदि) का उपभोग तो करता है किंतु उनका स्वामी बनकर, न कि दास बनकर–आई ईट टू लिव एण्ड नॉट दैट आई लिव टू ईट–कुछ ऐसी स्थिति हो जाती है। हां, उपासक भी भोजन खाता है तो उसके स्वाद का सुख प्राप्त करता है।

बालक और मां :– एक बालक का उसकी मां के साथ नैसर्गिक निकटतम संबंध होता है। हम इस चर्चा में बालक शब्द का प्रयोग कर रहे हैं किंतु इसके अंतर्गत बालक और बालिका दोनों ही का समावेश है–ए चाईल्ड हमने पूर्व ही देख लिया है कि एक बालक के लिए अपनी मां के पास जाना या उसकी गोद में जाना एक अत्यंत स्वाभाविक प्रवृत्ति है और विश्व का हर बालक ऐसा करता है और हम सबने भी बाल्यावस्था में ऐसा किया है। यह बालक की अपनी मां के प्रति ''उपासना'' की ही प्रवृत्ति है। जब हम ईश्वर–उपासना पर चर्चा करते हैं तो हमारा उद्देश्य यही है कि विश्व का हर मानव इस सृष्टि से तो जुड़ा ही है और इसके विविध पदार्थों (अन्न, जल, वायु, पृथ्वी आदि) का उपभोग करता ही है किंतु प्रतिदिन कुछ मिनट उस जगत्पिता की गोद में जाने का भी प्रयास करें, जिसने अद्भुत सृष्टि बनाई है और हमें इस सृष्टि में भेजा है। हर बालक मातृस्नेह की शीतल छाया की अनुभूति करता है और प्रतिदानस्वरूप मां की ओर सरल सहज भाव से उपासना के रूप में प्रवृत्त होता है। हर मनुष्य को भी चाहिए कि अपने मन में परमात्मा के प्रति स्नेह, प्रेम, कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करे कि उसके अंदर ऐसी सरल–सहज प्रवृत्ति उत्पन्न हो सके जिसकी परिणति ईश्वर–उपासना के रूप में हो जाएगी। हमें यह कहते हुए तनिक भी शंका या संकोच नहीं है कि जिसके अंदर ईश्वर–उपासना की प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न होती है वह सच्चे अर्थों में आस्तिक नहीं है; भले ही, वह अपने आपको कितना ही बड़ा आस्तिक समझता हो। आइए, इस बालक–मां के संबंध को कुछ निकट से देखें कि हमें भी प्रेरणा प्राप्त हो। आखिर, यह सत्य है कि विश्व में जो

कुछ भी नैसर्गिक, स्वाभाविक है -युनिवर्सल एंड नेचुरल -वह सब परमात्मा के बनाए नियम के अनुसार ही है और हमें उससे कुछ सीखना चाहिए।

एक नवजात शिशु भी मां का स्पर्श पहचानता है। बल्कि, वैज्ञानिक तो यहां तक कहते हैं कि सोते हुए शिशु को भी यह पता चल जाता है कि उसे नींद में किस व्यक्ति ने उसके सिर पर हाथ फेरा था-उसकी मां का स्पर्श था या अन्य किसी का। कभी वह बेचैन होता है तो मां की गोद में आने पर बहुधा शांत हो जाता है। उसे पता है कि सकल विश्व में सबसे सुरक्षित स्थान उसकी मां की गोद है- यह उसका अंतिम ठौर है। वह जब चलने-फिरने लायक हो जाता है तो भी यह दृढ भावना उसके भीतर बनी रहती है। एक-दो घंटे इधर-उधर खेल कर वह स्वत: ही मां के पास आ जाता है। मां की गोद या हल्का-सा स्पर्श पाकर वह पुन: अपने क्रिया-कलाप में लग जाता है।

जब वह 3-4 वर्ष का हो जाता है तो मां के साथ बाहर घूमने-फिरने भी जाने लगता है। संसार के विभिन्न दृश्यों को निहारता है लेकिन वह मां से जुड़ा रहता है। मां की उंगली सदैव पकड़े रहता है। उसे पता है कि संसार से जुड़ना भी अच्छा है किंतु मां से भी जुड़े रहना है। कुछ और बड़ा होकर अकेले स्कूल भी जाने लगा है। मां से गले मिलकर विदाई लेता है और स्कूल से लौटते ही मां से गले मिलने को लालायित रहता है। मां से जुड़े रहना कहें या मां की उपासना- प्रतिदिन दो बार (प्रात: और सायं)-यह सिलसिला अनवरत चलता रहता है।

यह 5-6 वर्ष का बालक अपने ग्राम/कस्बे/नगर के वार्षिक मेले में जाना चाहता है। उसने अपने मित्रों से सुन रखा है कि मैदान में मेला लगा है जिसमें विविध खेल हैं; मदारी है; जलेबी वाला है; इत्यादि। वह मां से मेले में जाने की इच्छा व्यक्त करता है और उसकी मां उसे मेले में ले भी जाती है। वहां जाते ही बालक कई चीजें खरीदने का हठ करता है; कई व्यंजन खाना चाहता है; कई खेलों में सम्मिलित होना चाहता है। उसकी मां यथासामर्थ्य उसकी इच्छाओं की पूर्ति करती है। कल्पना कीजिए, मेले की भीड़ में यह बालक मां से बिछुड़ गया है। एक कोने में खड़ा होकर रोने लगा है। एक भले व्यक्ति का उस पर ध्यान गया और उसने उसे गोद में ले लिया। थोड़ी-कुछ पूछताछ भी की कि उसके माता-पिता-घर आदि के बारे में कुछ पता चल जाए तो बच्चे को सही व्यक्ति तक पहुंचा सकें। किंतु बच्चा तो लगातार रोते ही जा रहा है। बच्चे का मन बहलाने के लिए उसे जलेबी देनी चाही। जो बच्चा मां से हठ करके जलेबी पाना चाहता था वह बालक अब जलेबी की ओर देखने को भी तैयार नहीं है। मेले के विविध आकर्षण उसे कुछ समय पहले मोहित कर रहे थे, अब वे सब फीके हो गए हैं क्योंकि वह अपनी मां से बिछुड़ गया है। अब

उसे बस मां चाहिए और मां से बिछुड़ने का यह कष्ट उसे इतना त्रस्त कर रहा है, जैसे कलेजा ही फट गया हो।

बालक के इस व्यवहार से हम सुपरिचित हैं कि उसे संसार (मेले) के विविध सुख अच्छे लगते हैं। किंतु तब तक ही जब तक उसकी उपासना (मां की उंगली पकड़ कर चलना) पर आंच न आए। कुछ ऐसी ही स्थिति हमें अपने अंदर उत्पन्न करनी होगी, तभी हमारी उपासना सार्थक होगी और उपासना-मार्ग पर पहला पग रखकर उस मार्ग पर अनवरत चलते रहने की दृढ़ संकल्पशक्ति ही इसमें सहायक हो सकती है। उपासना करने से ही उपासना में सफलता मिलेगी। केवल पुस्तकें पढ़ने से, बातें बनाने से उपासना नहीं होती। अब कोई कहे कि हमें तो ईश्वर से उतना प्रेम नहीं है जितना बालक को मां से है, तो हमारी ईश्वर-उपासना तो सफल ही नहीं होगी फिर हम क्यों इस पचड़े में पड़ें। तो, इसका उत्तर यह है कि कोई भी मनुष्य ईश्वर-उपासना का प्रयास आरंभ कर सकता है, चाहे वह किसी भी स्तर का हो। समय के साथ उसके अंदर परमात्मा के प्रति स्नेह-प्रेम का भाव भी उदित होगा और उसकी ईश्वर-उपासना में भी निखार आएगा।

सबसे प्रीतिपूर्वक :- महर्षि दयानंद ने आर्य समाज का सातवां नियम बनाया कि ''सबसे प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।'' इस नियम का सब पालन करें तो विश्व भर में विश्व-बंधुत्व और विश्व-भ्रातृत्व छा जाने में देर नहीं लगेगी। किंतु, इसका आरंभ हमें स्वयं से करना होगा। हम अपने परिवार में सर्वप्रथम मां से प्रेम का भाव पैदा करते हैं जो उसके मातृस्नेह के प्रतिदान स्वरूप उत्पन्न होता है। उसके बाद यह प्रेम का अंकुर बढ़कर पिता, भाई-बहन, सगे-संबंधियों से भी प्रेम हो जाता है। जो आगे जीवन यात्रा में सफल होते हैं वे अपने प्रेम भाव को और भी व्यापक रूप दे देते हैं।

इस प्रक्रिया में ईश्वर-उपासना अत्यंत सहायक हो सकती है। वैश्विक स्तर पर यदि एक मनुष्य परमात्मा के प्रति प्रेम का भाव रखता है तो उसकी सृष्टि में अन्य मनुष्यों, पशु-पक्षी को भी स्वयं की तरह परमात्मा की संतान मानकर सहज ही प्रीतिपूर्वक व्यवहार करने लगता है जैसे वह अपनी मां से प्रेम का भाव रखते हुए अपनी मां के घर में मां के अन्य पुत्र-पुत्रियों के प्रति (जो उसके भाई-बहन हैं) भी प्रेम का भाव रखता है। उपासना में इतनी सामर्थ्य है कि वह व्यक्ति विशेष के मन में सुख-शांति और आनंद का संचार कर सकती है और उसके मन में अन्य प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीपूर्ण दृष्टि उत्पन्न कर देती है।

सारांश :- उपासना-मार्ग के पथिक को स्वयं के जीवन में किस प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होंगे इनका हमने दिग्दर्शन किया। इनको हम मुख्यत: तीन भागों

में विभाजित करके देख सकते हैं। किसी एक उपासक को ये परिवर्त्तन आगे-पीछे भी दीख सकते हैं। इस चर्चा के दो उद्देश्य थे-

1. चाहे हम उन 100 में से सौभाग्यशाली 5 व्यक्तियों में से एक हों या 95 में से एक जिनमें हीन भावना ने जन्म ले लिया है। हम सब को ईश्वर-उपासना करनी चाहिए क्योंकि इसके अनेक लाभ हैं। वस्तुतः यही एक विलक्षण गतिविधि है जो एक मनुष्य को पशु-पक्षी से भिन्न बनाती है। अन्यथा हम भी पशुवत् जीवन जी रहे हैं।

2. **एक उपासक को पता चल सके कि उपासना**-मार्ग की यात्रा में वह कहां तक पहुंच चुका है और आगे क्या-क्या होने की संभावना है। आइए, उपासना - मार्ग के तीन प्रमुख सोपानों पर ध्यान देते हैं।
   1. **मन की चंचलता में न्यूनता और मन को विश्राम** - उपासना के प्राथमिक स्तर पर मन को विश्राम, विश्रांति प्राप्त होती है। जिसके कारण :-
      - मन शांत रहना चाहता है; क्रोध में कमी; व्यवहार में मृदुलता।
      - तनाव, चिंता, अवसाद (टेंशन, एंजाईटी, डिप्रेशन) में कमी; आंतरिक ऊर्जा से युक्त; जीवन में उत्साह, स्फूर्ति सोद्देश्यता।
      - नींद में जाना सुगम; गाढ़ी नींद; नींद के घंटों में कमी, अच्छी नींद के परिणामस्वरूप पूरा दिन अधिक ऊर्जा से युक्त।
      - स्वयं को मन का अधिष्ठाता/स्वामी बनने से सांसारिक प्रतिकूलताओं से होने वाले प्रभाव में कमी; दूसरों के दुर्व्यवहार से होने वाले प्रभाव में कमी; आत्मविश्वास में बढ़त।
      - मन की एकाग्रता से काम शीघ्रता से निपटता है और अच्छी गुणवत्ता से।
      - तन में आरोग्य की प्राप्ति; रोगप्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि; शरीर ओज-तेज से युक्त; शरीर का डीलडौल आकर्षक; श्वास प्रक्रिया में गहराई।
   2. **मन की वाशिंग/सर्विसिंग**-उपासना के द्वितीय स्तर पर साधक के मन का कायाकल्प होने लगता है। उसके व्यक्तित्व (पर्सनलिटी) में वृहद् परिवर्त्तन होने लगते हैं। उसका आत्मविश्वास बढ़ता है कि वह किसी भी परिस्थिति को सरल-सहज ढंग से झेल सकता है। जिसके कारण :-
      - उसके व्यवहार में बालवत् स्वाभाविकता; अब करणीय और अकरणीय

बिंदुओं की गहन शिक्षा की आवश्यकता नहीं– यह सब स्वतःस्फूर्त ढंग से संपादित।

- जो हीन भावना घर कर जाती है, उससे छुटकारा; हीनभावना के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली ''श्रेष्ठता की भावना'' से भी छुटकारा।
- चिंतन में गहराई; इन्फॉर्मेशन से नॉलेज और विस्डम की ओर; परनिंदा आदि में अरुचि।

3. **प्रभु की गोद में** – उपासना के तृतीय स्तर पर साधक को आभास होता है कि वह अपने मन से वियुक्त है और प्रभु के सान्निध्य में है। जिसके कारण :–

- नई ऊहापोह; नए ज्ञान बिंदु – स्थूल विषय (वितर्क संप्रज्ञात समाधि) अथवा सूक्ष्म विषय (विचार सम्प्रज्ञात समाधि); सृजनात्मकता।
- देवत्व की ओर; कर्म एवं जीवन ईश्वर को समर्पित – ईश्वरप्रणिधान;
- सुख–शांति से परे आनंदरस का प्रभाव (आनंद संप्रज्ञात समाधि)।
- उपासना की अवधि से परे भी ईश्वर से जुड़े रहने का भाव जैसे बालक मां की छाया में।
- प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव।
- साधक को पूरा विश्वास हो जाता है कि वह परफैक्ट नहीं है और किसी प्रकार के दंभ से दूर है किंतु परफैक्शन के मार्ग पर है।

उपसंहार

हमने मुख्यतः गायत्री-संध्या को माध्यम बनाकर ईश्वर-उपासना की विधि पिछले अध्यायों में बताई है। कोई वैदिक संध्या ही करना चाहे तो उपस्थान मंत्रों (उद्वयं..., उदुत्यं...,चित्रं...,तच्चक्षु...) के बाद गायत्री मंत्र का जप करते समय यहां बताई गायत्री संध्या की विधि के अनुसार ईश्वर-उपासना करे अर्थात् गायत्री मंत्र के पाठ के उपरांत 4-6 मिनट से आरंभ करके प्रभु की गोद में जाने का उपक्रम करे। कोई नास्तिक हो व उसे ईश्वर-अस्तित्व पर विश्वास न हो तो शांत बैठकर मन की हलचल को रोकने का प्रयत्न करे; इससे भी लाभ होना चाहिए।

अंत में, हम तीन वेद मंत्रों को उद्घृत कर रहे हैं जिनमें पहला तो गायत्री मंत्र ही है।

1. गायत्री मंत्र (ऋग्वेद 3.62.10, यजुर्वेद 36.3, सामवेद उ.6.3.10.1) :-

ओम् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।।

इसका अर्थ पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

2. ऋग्वेद 10.9.2 :-

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः।।

हमने संसार के अनेक सुख देख लिए हैं। जो तुम्हारा श्रेष्ठतम रस है उसकी हम कामना करते हैं। वह इतनी आसानी से सुलभ है जैसे एक शिशु को मां का दूध।

3. ऋग्वेद 7.89.4 :-

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय।।

हम मनुष्यों की संसार में दशा कुछ ऐसी है जैसी एक जलाशय में स्थित मछली की हो जो प्यास से पीड़ित हो। महान् आश्चर्य! हे प्रभो! तुम हम पर कृपा करो और हमारी प्यास को बुझा दो, जो केवल तुम ही कर सकते हो।

डॉ. हरिश्चन्द्र - एक परिचय

+ कोलकाता के एक आर्य समाजी परिवार में सितम्बर 1952 में जन्म – पिता श्री रामगोपाल आर्य, माता श्रीमती कस्तूरी देवी।
+ आर्य समाज कोलकाता के बाल सत्संग में बचपन से ही सम्मलित 12–13 वर्ष की अवस्था से प्रौढ़ों के सत्संग में एवं आर्य समाज बड़ा बाजार के सत्संग में भी।
+ स्कूली शिक्षा के बाद आई.आई.टी कानपुर से बी.टैक, प्रिन्सटन वि.वि. (अमेरिका) से पी–एच.डी.।
+ दहन विज्ञान के विशेषज्ञ के रूप में अमेरिका, जर्मनी, पुणे (भारत) नार्वे में अनुसंधान कार्य
+ बचपन से वैदिक साहित्य के स्वाध्याय के बल पर सन् 1996 से वैदिक मिशनरी।
+ भारत में कॉरपोरेट संस्थाओं में और यूरोप–अमेरिका में वेद प्रचार 1998–2008।
+ आर्य समाज बर्मिंघम (यू.के) से जुड़कर ब्रिटिश लोगों में प्रचार 2008–2012; पुनः स्वतंत्र रूप में लंदन से 2012–2015।
+ 2015 से आर्य समाज ह्यूस्टन (अमेरिका) से जुड़कर प्रचार।
+ विदेशियों के मध्य अंग्रेजी माध्यम से वेद प्रचार में विशेष योग्यता पतंजलि योग द्वारा ध्यान व ईश्वर–उपासना का सैद्धांतिक व व्यावहारिक पक्ष की प्रस्तुति में विशिष्ट योगदान।
+ सात पुस्तकें अंग्रेजी में ; हिंदी में– हिंदुओं का भविष्य, संध्योपासना: एक विवेचन
+ कश्यप वेद रिसर्च फाउंडेशन (कालीकट, केरल) द्वारा 2011 में 'वेदरत्न' से सम्मानित।
+ धर्मपत्नी –डॉ. कविता वाचस्पति, 1 पुत्री व 2 पुत्र।